वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 33
ISBN 978-93-82071-12-9

प्रभावना

(अकलंक-निकलंक कथा ग्रंथ के आधार से)

–लेखिका–

तीर्थंकर जन्मभूमियों के विकास की प्रेरणास्रोत,
250 ग्रंथों की लेखिका

पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी

शरदपूर्णिमा महोत्सव, 11 अक्टूबर 2011 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा घोषित ''प्रथम पट्टाचार्य श्री वीरसागर वर्ष'' के अन्तर्गत प्रकाशित

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.-250404

फोन नं.- (01233) 280184, 280994

Website : www.jambudweep.org

E-mail : jambudweeptirth@gmail.com

दशवाँ संस्करण	वीर नि. सं. 2538, वैशाख शु. 15	मूल्य
5500 प्रतियाँ	6 मई 2012	24/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती रहती हैं।

-: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :-

गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

-: मार्गदर्शन :-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

-: निर्देशन एवं सम्पादक :-

स्वस्तिश्री कर्मयोगी पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी

-: प्रबंध सम्पादक :-

जीवन प्रकाश जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण-सन् 1980, प्रतियाँ 00000
द्वितीय संस्करण-सन् 1982, प्रतियाँ 000000

कम्पोजिंग–ज्ञानमती नेटवर्क, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

सम्पादकीय

-स्वस्तिश्री कर्मयोगी पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामी

साहित्य समाज का दर्पण है। हर व्यक्ति गतिशील है और नई-नई खोजों में विश्वास करता है। आज के वैज्ञानिक एवं पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित युग में बड़े-बड़े पुराण ग्रंथों को पढ़ने का समय आज किसी के पास नहीं है, इसलिए उन पुराण ग्रंथों के प्रेरणादायी, आगमोक्त, सत्य कथानाकों में एक कथानक को गागर में सागर के समान इस छोटी सी औपन्यासिक शैली में लिखी गई ''प्रभावना'' पुस्तक में समाहित किया गया है। आज की नूतन पीढ़ी विशेष नए-नए आकर्षक साहित्य की ओर रुचिवान होती है, यह कृति उसी का एक रूप है। प्राचीन कथानक की आधुनिक परिवेश में रचना ही इसकी विशेषता है।

वैसे तो पूज्यनीय गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने अष्टसहस्री जैसे महानतम् ग्रंथ का अनुवाद किया है, फिर भी भक्तों के विशेष आग्रह पर इस प्रकार के अनेक रोचक कथानकों को सुन्दर, सौष्ठवपूर्ण और परिष्कृत भाषा शैली में लिखकर हमें प्रदान किया है, जिसके लिए हम सब उनके ऋणी हैं। इस कथानक में जैनधर्म के महान आचार्य स्वामी अकलंक देव एवं निकलंक देव के जीवनवृत्त का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है।

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् 1980 में प्रकाशित

हुआ, जो कि अत्यन्त लोकप्रिय रहा, पुनः इसकी अत्यधिक मांग आने पर सन् 1982 में ही इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया गया। अब यह तृतीय संस्करण आपके हाथ में है, जिसे पढ़कर आज की युवा पीढ़ी धर्म के संस्कारों से संस्कारित होकर देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति एवं रक्षा में सतत तत्पर रहने का संकल्प लेवे और समय आने पर उसे मूर्तरूप देकर सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपने मानव जीवन को समुज्ज्वल बनावे, यही इस पुस्तक के प्रकाशन की सार्थकता है।

प्रस्तावना

-ब्र. कु. इन्दु जैन (संघस्थ)

जिनशासन के माहात्म्य को वृद्धिंगत करने वाले अनेक महान आचार्य समय-समय पर इस भूतल पर हुए हैं, जिनमें आठवीं शताब्दी के आचार्य श्री अकलंक देव का नाम इतिहास में अविस्मरणीय रहेगा, जिन्होंने उस समय बौद्धों से शास्त्रार्थ कर सम्पूर्ण भारतवर्ष में अनेकांत के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। अष्टशती के रचयिता आचार्य श्री अकलंकस्वामी बाल्यकाल से ही अत्यन्त मेधावी थे, वे एकपाठी थे अर्थात् एक बार सुनने मात्र से उन्हें वह बात सदा सर्वदा के लिए कंठस्थ हो जाती थी।

बाल्यावस्था से ही उनकी जिनधर्म के प्रचार-प्रसार की लगन, बालब्रह्मचर्य व्रत के प्रति दृढ़ आस्था, विषम परिस्थितियों में भी बौद्ध विद्यालय में जाकर उसके खण्डन हेतु विद्याध्ययन, छोटे भाई निकलंक द्वारा बलिदान करने पर भ्रातृ-मोह के साथ संसार की असारता को समझकर दीक्षा धारण करना तथा अपनी विशिष्ट तार्किक शक्ति से शास्त्रार्थ में विजय प्राप्तकर जिनधर्म की कीर्तिपताका को फहराना, पुनः आगे उच्च कोटि के न्याय ग्रंथों का लेखन आदि उनके जीवन की विभिन्न घटनाओं में उनकी दृढ़ता, तेजस्विता आदि अलौकिक गुण दृष्टिगत होते हैं, वस्तुतः ऐसे महापुरुषों के चरित्र जीवन निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

उनके समय में किस प्रकार बौद्ध धर्म का बोलबाला था,

अन्य धर्मों की क्या स्थिति थी, उनके साथ कैसा अमानवीय एवं क्रूरतापूर्ण व्यवहार होता था, इन सबकी जानकारी हमें अकलंक-निकलंक स्वामी के चरित्र में दृष्टिगोचर होती है। वास्तव में धर्म के नाम पर संकुचित विचारधारा और घृणित मानसिकता को अपनाकर बड़े से बड़ा ज्ञानी धर्मात्मा व्यक्ति भी कितनी जघन्यता कर सकता है, यह बात विद्यालय शिक्षा के मध्य हुए अकलंक-निकलंक के प्रति व्यवहार से स्पष्ट झलकती है। इन्हीं सब कारणें से उस समय का वातावरण इतना अधिक कष्टकारी एवं आतंक से परिपूर्ण हो चुका था जो बौद्ध धर्म के पतन का मुख्य कारण बना और उसके बाद तो यह अपने देश से दो शताब्दी में ही लुप्त हो गया।

वास्तव में आज के समय में ऐसे कथानक देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति, धर्म के ऊपर सर्वस्य न्योछावर करने की भावना आदि की शिक्षा सहज रूप में दे जाते हैं किन्तु पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव और समयाभाव के कारण आज बड़े-बड़े शास्त्र-पुराणों को पढ़ने का समय किसी के पास नहीं है और ऐसे समय में ढ़ाई सौ से भी अधिक ग्रंथों की रचयित्री शारदा स्वरूपा, पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी एक अनमोल निधि के रूप में बीसवीं शताब्दी में इस जैन जगत को प्राप्त हुई हैं जिन्होंने जैनागम के चतुरनुयोगों का गहन अध्ययन, चिंतन-मनन कर जहाँ हमें अष्टसहस्री आदि क्लिष्ट ग्रंथों को सरल करके दिया वहीं प्रथमानुयोग के ग्रंथों से ऐसे अनेक लघु कथानक निकालकर रोचक औपन्यासिक शैली में प्रदान किए, जिसके पठन से आबाल-गोपाल, युवा-वृद्ध सभी जीवन निर्माण हेतु अच्छी शिक्षा प्राप्त

कर देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति में तन्मय हो महान पुण्य का संचय कर सकते हैं।

उनकी उन्हीं कृतियों में ही एक कृति यह ''प्रभावना'' नामक उपन्यास है, जो लघु होते हुए भी अत्यन्त रोचक, हृदयस्पर्शी, मार्मिक और शिक्षास्पद है।

वास्तव में जैनागम के चतुरनुयोगों में प्रथमानुयोग में वर्णित महापुरुषों का जीवन चरित्र भव्य प्राणी के जीवन निर्माण में सहयोगी बनता देखा जाता है जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण परम पूज्यनीया गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी हैं, जिन्होंने इन्हीं अकलंक-निकलंक के जीवनवृत्त को नाटिका के माध्यम से देखकर उसकी एक पंक्ति ''प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्'' अर्थात् कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा कीचड़ में पैर नहीं रखना अच्छा है'' को हृदयंगम कर मात्र 7-8 वर्ष की लघुवय में ही अपने जीवन को वैराग्यपथ पर मोड़ लिया और अपनी आत्मिक शक्ति को प्रकट कर बीसवीं शताब्दी में कुमारिकाओं की पथप्रदर्शिका बनकर वह ऐतिहासिक गौरवपूर्ण कार्य किए, जिनके लिए जिनशासन सदैव उनका ऋणी रहेगा। वस्तुतः इस प्रभावना पुस्तक को पढ़कर पाठकगण अनेकान्तमयी स्याद्वादशासन के प्रति दृढ़ आस्था रखते हुए अपने जीवन को समुन्नत बनावें और पूज्य माताजी की लेखनी से ऐसी ही अनुपम कृतियाँ प्राप्त होकर हमारे उज्ज्वल भविष्य में सहायक होवें, उनका वरदहस्त सदैव हम पर बना रहे, यही जिनेन्द्रदेव से हमारी मंगल भावना है।

राष्ट्रगौरव, गणिनीप्रमुख, आर्यिकाशिरोमणि

श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त-परिचय

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

भारत की वसुन्धरा सदैव से तपस्या, त्याग एवं संयम की भूमि रही है। भगवान ऋषभदेव, राम, महावीर की यह भूमि आज भी ऐसे महान व्यक्तित्वों से सुशोभित है कि जो अपने जीवन में ही ऐतिहासिक बन जाते हैं।

ऐसा ही एक महान व्यक्तित्व है– वर्तमान दिगम्बर जैन समाज की सबसे प्राचीन दीक्षित साध्वी-पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी। सन् 1934 में शरदपूर्णिमा के दिन जिला बाराबंकी (उ.प्र.) के टिकैतनगर ग्राम में माता मोहिनी एवं पिता श्री छोटेलाल जैन के दाम्पत्य जीवन के प्रथम पुष्प के रूप में कन्यारत्न 'मैना' का जन्म हुआ। छोटी सी आयु से ही अपनी माँ की प्रेरणावश जैन ग्रंथों के स्वाध्याय द्वारा इस बालिका ने अपने वैराग्य को भलीभाँति दृढ़ कर लिया और 18 वर्ष की अल्प आयु में शरदपूर्णिमा के दिन ही परिवार के प्रबल विरोध के बावजूद भी आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत एवं गृहत्याग के कठिन नियम धारण कर लिये। सन् 1953 में श्री महावीर जी (राज.) अतिशय क्षेत्र पर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से आपने क्षुल्लिका

दीक्षा लेकर 'वीरमती' नाम प्राप्त किया। पुनः 1956 में बीसवीं सदी के प्रथम आचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज की आज्ञानुसार उनके प्रथम पट्टाधीश शिष्य आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज से माधोराजपुरा (राज.) में आपने आर्यिका दीक्षा लेकर 'ज्ञानमती' नाम प्राप्त किया। ज्ञान प्राप्ति हेतु अध्ययन-अध्यापन एवं स्वाध्याय के प्रति आपकी विशेष अभिरुचि देखकर ही गुरुवर ने आपको यह नाम प्रदान किया था। दीक्षा के प्रारंभिक वर्षों में आपने सर्वप्रथम संस्कृत व्याकरण एवं जैन आगम का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया तथा साथ ही सहस्रनाम मंत्रों की रचनापूर्वक अपनी लेखनी का शुभारंभ भी कर दिया।

60 वर्षों से साधनारत इन महान साध्वी ने अब तक 250 से भी अधिक ग्रंथों का सृजन किया है। संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत, कन्नड़ इत्यादि भाषाओं की प्रकाण्ड विदुषी पूज्य माताजी की काव्य प्रतिभा भी अद्वितीय है। जिनेन्द्र भक्ति के रस से भरे हुए न जाने कितने ही पूजन-विधानों की रचना पूज्य माताजी ने अपनी लेखनी द्वारा की है। सन् 1995 में डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय (फैजाबाद) ने पूज्य माताजी की विराट ज्ञान साधना को देखकर जैन इतिहास में प्रथम बार किसी साध्वी को 'डी.लिट्.' की मानद् उपाधि प्रदान की। पुनः इसके उपरांत 8 अप्रैल 2012 को पूज्य माताजी के 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस के अवसर पर तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद में विश्वविद्यालय का प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह आयोजित करके विश्वविद्यालय द्वारा पूज्य माताजी के करकमलों

डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की गई।

कर्मठता, दृढ़संकल्प, अनुशासन के साथ-साथ वात्सल्य की प्रतिबिम्ब पूज्य माताजी की प्रेरणा से कौरवों-पाण्डवों की राजधानी हस्तिनापुर (मेरठ-उ.प्र.) में जैन भूगोल की अद्वितीय रचना-'जम्बूद्वीप' का निर्माण हुआ है।

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की दीक्षा एवं केवलज्ञान कल्याणक भूमि-प्रयाग (इलाहाबाद) में 'तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ' का भव्य निर्माण भी पूज्य माताजी की सृजनशक्ति का ही सुन्दर प्रतिफल है। इसी प्रकार भगवान महावीर जन्मभूमि-कुण्डलपुर (नालंदा) में नंद्यावर्त महल तीर्थ का भव्य निर्माण पूज्य माताजी की प्रेरणा एवं ससंघ सानिध्य में मात्र 22 माह के अल्प अन्तराल में हुआ है।

2600 वर्ष पूर्व कुण्डलपुर (नालंदा) की जो धरती अहिंसा के अवतार भगवान महावीर के जन्मकल्याणक से महान उत्साह एवं हर्ष को प्राप्त हुई थी वह काल के थपेड़ों से भले ही विस्मृत जैसी हो गयी हो, परन्तु जैन समाज के श्रद्धालुओं का वहाँ जाना हमेशा से जारी रहा और अब पूज्य ज्ञानमती माताजी के महान उपकार स्वरूप यह जन्मभूमि पुनः इस प्रकार जगमगा उठी है कि आने वाला भविष्य सदैव इसकी चमक से प्रभावित रहेगा।

पूज्य माताजी की प्रेरणा से जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति (1982) एवं भगवान ऋषभदेव समवसरण श्रीविहार रथ (1998) का देशव्यापी प्रवर्तन सम्पन्न हुआ एवं कुण्डलपुर से प्रवर्तित भगवान महावीर ज्योति रथ (2003) का प्रवर्तन सफलतापूर्वक सम्पन्न

हुआ है। इन रथों के द्वारा सम्पूर्ण भारत में अहिंसामयी सिद्धान्तों की व्यापक प्रभावना हुई।

शैक्षणिक क्षेत्र में अनेकानेक राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियाँ-सेमिनार इत्यादि पूज्य माताजी की प्रेरणा द्वारा समय-समय पर सम्पन्न हुए हैं तथा आज भी हो रहे हैं। पूज्य माताजी के विराट व्यक्तित्व का अभिनंदन करने के लिए समाज ने उन्हें समय-समय पर युगप्रवर्तिका, चारित्रचन्द्रिका, न्याय प्रभाकर, आर्यिकारत्न, गणिनीप्रमुख, युगनायिका, राष्ट्रगौरव, विश्वविभूति, वाग्देवी, भारतभूषण जैसी उपाधियों से सम्मानित करके स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया है। वर्तमान में महाराष्ट्र प्रान्त के मांगीतुंगी पर्वत पर विश्व की सबसे ऊँची 108 फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा का निर्माण पूज्य माताजी की प्रेरणा से हो रहा है।

24 घंटे में एक बार आहार लेकर, केशलोंच एवं पदविहार जैसी कठिन साधना करते हुए ब्रह्मचर्य एवं चारित्र के तेज को सर्वत्र बिखेरने वाली पूज्य ज्ञानमती माताजी भारतीय संस्कृति की महान धरोहर हैं, जिन्होंने 15 अप्रैल 2006 को अपनी आर्यिका दीक्षा के 50 वर्षों को पूर्ण किया है। 21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में पूज्य माताजी की प्रेरणा से आयोजित विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का उद्घाटन भारत की प्रथम महिला राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील के करकमलों से हुआ और सन् 2009 ''शांतिवर्ष'' के रूप में घोषित हुआ। राष्ट्रपति जी ने जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में पधारकर पूज्य माताजी का

आशीर्वाद प्राप्त किया।

दीर्घकालीन तपस्विनी ऐसी पूज्यनीया माताजी ने सन् 2009 में अपने जीवन के 75 वर्ष पूर्ण किए जिसे सन् 2008 से 2009 तक राष्ट्रीय स्तर पर ''हीरक जयंती महोत्सव वर्ष'' के रूप में मनाया गया।

वास्तव में आज के कलिकाल में भी आध्यात्मिक ज्ञान, चारित्र, साधना एवं मोक्षपथ को साकार करने वाले गुरुओं का जितना अभिनंदन किया जाये, उतना कम है। जो बिना कुछ कहे अपनी मुद्रा द्वारा ही शांति, संयम, सदाचार का उपदेश देते हैं ऐसे साधु इस भारत वसुन्धरा की शान हैं और हम जैसे जो भी प्राणीगण परमसौभाग्य से उनके चरणों में आश्रय प्राप्त कर लेते हैं, वे भी अपने जीवन को सही अर्थों में सार्थक कर लेते हैं।

ऐसे चतुर्मुखी प्रतिभा की धनी पूज्य माताजी के श्रीचरणों में भावभीना कोटिशः नमन है।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान-संक्षिप्त परिचय

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की स्थापना पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से सन् 1972 में राजधानी दिल्ली में हुई थी। संस्थान का मुख्य कार्यालय सन् 1974 से हस्तिनापुर में प्रारंभ हुआ। इस संस्थान के अन्तर्गत अनेक गतिविधियाँ हस्तिनापुर में तथा अन्यत्र चल रही हैं–

1. सन् 1972 से वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला के माध्यम से लाखों ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं।

2. सन् 1974 से इस संस्थान के मुखपत्र के रूप में 'सम्यग्ज्ञान' हिन्दी मासिक पत्रिका का निरंतर प्रकाशन हो रहा है।

3. सन् 1974 से 1985 तक हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप रचना का निर्माण कार्य हुआ।

4. सन् 1974 से अब तक जम्बूद्वीप रचना के अतिरिक्त अनेक जिनमंदिरों का निर्माण हुआ है–कमल मंदिर, तीन मूर्ति मंदिर, ध्यान मंदिर, शांतिनाथ मंदिर, वासुपूज्य मंदिर, ॐ मंदिर, सहस्रकूट मंदिर, विद्यमान बीस तीर्थंकर मंदिर, आदिनाथ मंदिर, अष्टापद मंदिर, ऋषभदेव कीर्तिस्तंभ, स्वर्णिम तेरहद्वीप रचना, नवग्रहशांति जिनमंदिर, तीन लोक रचना एवं श्री शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की 31-31 फुट उत्तुंग प्रतिमाओं की स्थापना ।

5. जम्बूद्वीप पुस्तकालय जिसमें लगभग 15000 ग्रंथ संग्रहीत हैं।

6. णमोकार महामंत्र बैंक जिसमें भक्तों द्वारा लिखकर भेजे गये

करोड़ों णमोकार मंत्र जमा किये जाते हैं।

7. समय-समय पर शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों तथा संगोष्ठियों के आयोजन किये जाते हैं।

8. यात्रियों के शुद्ध भोजन के लिए राजा श्रेयांस भोजनालय का संचालन।

9. यात्रियों के ठहरने के लिए आधुनिक सुविधायुक्त डीलक्स फ्लैट्स वाली कई धर्मशालाओं तथा कोठियों एवं बंगलों का निर्माण किया गया है।

10. जम्बूद्वीप परिक्रमा के लिए नौका विहार, ऐरावत हाथी तथा मनोरंजन हेतु मिनी ट्रेन, झूले आदि हैं।

11. ज्ञानमती कला मंदिरम् में हस्तिनापुर के प्राचीन इतिहास से संबंधित झाँकियाँ हैं।

12. तीर्थंकर जन्मभूमियों की वंदना एवं धार्मिक फिल्मों का प्रदर्शन करने वाले थियेटर से समन्वित गणिनी ज्ञानमती हीरक जयंती एक्सप्रेस।

दिल्ली, मेरठ, मुजफ्फरनगर, हरिद्वार, झाँसी, तिजारा आदि से जम्बूद्वीप स्थल तक आने के लिए दिन भर बसें मिलती रहती हैं।

दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा) बिहार में भव्य ''नंद्यावर्त महल'' तथा प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में निर्मित तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ का भी संचालन होता है।

जम्बूद्वीप एवं अन्य रचनाओं के दर्शन हेतु हस्तिनापुर पधारकर आध्यात्मिक एवं भौतिक सुख की प्राप्ति करें।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के शिरोमणि संरक्षक

1. श्रीमती निर्मला जैन ध.प. स्व. श्री प्रेमचन्द्र जैन, तत्पुत्र प्रदीप कुमार जैन, खारी बावली, दिल्ली-6।
2. श्रीमती सुमन जैन ध.प. श्री दिग्विजय सिंह जैन, इंदौर।
3. श्री महावीर प्रसाद जैन संघपति, जी-19, साऊथ एक्सटेन्शन, नई दिल्ली।
4. श्री महेन्द्र पाल हरेन्द्र कुमार जैन, सूरजमल विहार, दिल्ली।
5. श्रीमती मोहनी जैन ध.प. श्री सुनील जैन, प्रीत विहार, दिल्ली।
6. श्री देवेन्द्र कुमार जैन (धारूहेड़ा वाले) गुड़गाँव (हरि.)।
7. श्रीमती शारदा रानी जैन स्व. रिखबचंद जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली।
8. डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, भोपाल (म.प्र.)।
9. श्रीमती संगीता जैन ध.प. श्री संजीव कुमार जैन, शेरकोट (बिजनौर) उ.प्र.।
10. श्री अनिल कुमार जैन, दरियागंज, दिल्ली।
11. श्री बी.डी. मदनाइक, मुम्बई।
12. श्री धनकुमार जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।
13. श्री जितेन्द्र कुमार जैन एवं श्रीमती सुनीता जैन कोटड़िया, फ्लोरिडा, यू.एस.ए.।
14. श्रीमती विमला देवी जैन ध.प. श्री ओमप्रकाश जैन, शिवालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
15. श्री अमित जैन एवं संभव जैन सुपुत्र श्रीमती अनीता जैन ध.प. श्री मूलचंद जैन पाटनी, दिसपुर (कामरूप) आसाम।
16. श्रीमती अजित कुमारी जैन ध.प. श्री महेन्द्र कुमार जैन, ओबेदुल्लागंज (रायसेन) म.प्र.।
17. श्री नाभिकुमार जैन, जैन बुक डिपो, सी-4, पी.वी.आर. प्लाजा के पीछे, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के परम संरक्षक

1. श्री माँगीलाल बाबूलाल पहाड़े, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।
2. डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, 792 विवेकानंदपुरी, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।
3. श्री सुमत प्रकाश जैन, गज्जू कटरा, शाहदरा, दिल्ली।
4. श्री सुनील कुमार जैन, द्वारा-सुनील टैक्सटाईल्स, सरधना (मेरठ) उ.प्र.।
5. स्व. श्री प्रकाश चंद अमोलक चंद जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।
6. श्री प्रद्युम्न कुमार जवेरी, रोकड़ियालेन, बोरीवली (वेस्ट) मुंबई।
7. श्रीमती उर्मिला देवी ध.प. श्री कान्ती प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
8. श्रीमती उषा जैन ध.प. श्री विमल प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
9. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) , गांधीनगर, दिल्ली।
10. श्रीमती सरिता जैन ध.प. श्री राजकुमार जैन, किदवई नगर, कानपुर।
11. स्व. श्रीमती कैलाशवती ध.प. श्री कैलाश चन्द्र जैन , तोपखाना बाजार, मेरठ।
12. श्री भानेन्द्र कुमार जैन, द्वारा-श्री विद्या जैन, भगत सिंह मार्ग, जयपुर।
13. श्री प्रदीप कुमार शान्तिलाल बिलाला, अनूपनगर, इंदौर, (म.प्र.)।
14. श्री सुरेशचंद पवन कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।
15. श्री नथमल पारसमल जैन, कलकत्ता-7।
16. श्रीमती स्व. शांताबाई ध.प. श्री कमलचंद जैन, सनावद (म.प्र.)।
17. श्री रूपचंद जैन कटारिया, दिल्ली
18. श्री आशु जैन, कालका जी, नई दिल्ली
19. श्री प्रद्युम्न कुमार जैन छोटी सा., श्री अमरचंद जैन सर्राफ, लखनऊ।

प्रभावना

(1)

जिनमंदिर के विशाल प्रांगण में जैन जनता का अपार समूह उमड़ता चला आ रहा है। कारण है कि आज फाल्गुन शुक्ला अष्टमी है, आष्टान्हिक नामक महापर्व का प्रथम दिवस है। यह महापर्व वर्ष में तीन बार आता है। यह आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मास की शुक्ल पक्ष की अष्टमी से पूर्णिमा तक मनाया जाता है। जगह-जगह रत्नों के चूर्ण से मंडल पूरे गये हैं। चंद्रोपक, चामर, छत्र, अष्टमंगल, मंगलकुंभ, धूपघट और प्रज्ज्वलित हुए दीपकों के प्रकाश से मंडल अतिशय शोभायमान हो रहे हैं। सर्वत्र दंपती लोग अपने परिवार और विशाल वैभव के साथ नंदीश्वर पूजनविधान, सिद्धचक्र पूजन विधान का आयोजन कर रहे हैं। तोरण, पताका और छोटी-छोटी घंटियों से सारा

मंदिर सजाया गया है। घंटा का गंभीर नाद और घंटियों की मधुर ध्वनि शहर की जनता को मानों बुला ही रही है।

मंदिर के चारों तरफ सुंदर उद्यान है। रंग-बिरंगे पुष्प खिल रहे हैं। आम्र की मंजरियों पर कोयल की कुहू-कुहू जनता के मन को आकृष्ट किये बगैर नहीं रहती है। बसंत ऋतु ने अपना प्रभाव उद्यानों और उपवनों तक ही नहीं गृहस्थाश्रम में रहने वाले सभी तरुण युवकों और युवतियों के हृदय तक फैला रखा है। यहाँ तक ही नहीं, वृद्धों को भी तथा ब्रह्मचारी आश्रम में रहने वाले कोमल हृदयी किशोर बालक-बालिकाओं पर भी अपना असर डाल रखा है। वकुल, मालती, गुलाब आदि पुष्पों की सुगंधि चारों ओर घूमती हुई लोगों के नासिका और मन को तो प्रिय लग ही रही है, साथ ही पवन भी उस सुगंधि को चुरा-चुरा कर पुनः उदारमना होकर चारों तरफ दूर-दूर तक बिखेर रहा है। वहीं पर मंदिर के उत्तर की ओर अशोक वृक्ष के नीचे ऊँची शिला पर एक काष्ठासान पर 'चित्रगुप्त' नामक महामुनिराज विराजमान हैं जिनके पास संयम की रक्षिका मयूर पंखों की पिच्छिका रखी हुई है और सामने एक चौकी पर शास्त्र विराजमान हैं तथा कुछ ही दूर बायीं तरफ काठ का एक कमंडलु रखा हुआ है जिसमें शुद्ध प्रासुक गरम जल भरा हुआ है। यह मुनिराज के लिए शौच का उपकरण माना गया है। बस, इसके सिवाय उनके पास कोई भी परिग्रह नहीं है। किंचित् दूर उसी उद्यान में वसतिका बनी हुई है जिसमें बैठ कर वे अपना ध्यान-अध्ययन किया करते हैं। अभी-अभी धर्मोपदेश समाप्त हुआ है अतः उनके

निकट नियम लेने वाले श्रावकों की भीड़ लगी हुई है। धीरे-धीरे लोग वहाँ से हट रहे हैं।

अब गुरुदेव के निकट राजा शुभतुंग के महामंत्री पुरुषोत्तम जी अपनी धर्मपत्नी पद्मावती और सुपुत्र अकलंक-निकलंक के साथ बैठे हुए हैं। कुछ धर्मचर्चा चल रही है। अनंतर समय पाकर मंत्री महोदय निवेदन करते हैं–"भगवन्! इस महापर्व में आठ दिन के लिए हमें ब्रह्मचर्य व्रत दे दीजिये।" इतना कहकर मंत्रीजी अपनी पत्नी के साथ-साथ मस्तक झुकाते हैं और मुनिराज पिच्छिका उठाकर कुछ मंत्र पढ़ते हुए दोनों को ब्रह्मचर्य व्रत दे देते हैं। दोनों किशोर बालक कौतुकपूर्ण दृष्टि से देखते हुए व्रत लेने के लिए उत्कंठित दिखाई देते हैं कि सहसा पुरुषोत्तम जी बोल उठते हैं–"क्यों बेटे! क्या तुम भी व्रत ग्रहण करना चाहते हो ?"

दोनों पुत्र एक स्वर में बोल उठते हैं–"हाँ पिताजी! हमें भी व्रत दिला दीजिये।"

पिताजी हंसते हुए गुरुदेव से निवेदन करते हैं–"भगवन्! इन बच्चों को भी ब्रह्मचर्य व्रत दे दीजिये।"

इतना सुनते ही दोनों बालक घुटने टेककर हाथ जोड़कर मस्तक झुका लेते हैं और मुनिराज कुछ मंत्र पढ़ते हुए इन दोनों के मस्तक पर बड़े प्रेम से पिच्छिका फिराते हुए व्रतारोपण कर देते हैं। पुनः प्रसन्नमना होकर बोलते हैं–

"प्रिय बालकों! तुम दोनों की आत्मा बहुत ही महान है और तुम्हारा भविष्य बहुत ही उज्ज्वल प्रतीत हो रहा है जो कि इस अबोध वय में तुमने व्रत ग्रहण किया है।"

गुरु के मुख से ऐसे शुभ वाक्य सुनकर दोनों बालक तो हर्ष से विभोर होते ही हैं, साथ ही उनके माता-पिता भी आनंद से पुलकित हो जाते हैं। पुनः सभी गुरुदेव को नमस्कार करके उनके चरणों का स्पर्श करके उनकी आज्ञा लेकर वापस घर आ जाते हैं।

(2)

बगीचे में अकलंक-निकलंक अपने बहुत से मित्रों के साथ खेल रहे हैं। कंदुक की क्रीड़ा में आसक्त हुए इन बालकों को देखकर कुछ बौद्ध भिक्षुक वहीं पर ठहर जाते हैं और एक छोटे से भिक्षुक को उन बालकों के निकट भेज देते हैं। वह तरुण भिक्षुक इन लोगों से पूछता है–"बालकों! इस शहर का क्या नाम है ?"

अकलंक आगे होकर बोलते हैं–"यह शहर 'मान्यखेट' नाम से प्रसिद्ध है।"

"यहाँ के राजा का क्या नाम है ?"

"महाराजा शुभतुंग। ये राजा न्यायनीति से अपनी प्रजा के पालन करने में कुशल हैं।"

ये बालक इन भिक्षुओं को नमस्कार नहीं करते हैं तभी वह साधु पूछ बैठता है–"क्या तुम लोग जैन हो ?"

सभी बालक एक साथ बोल पड़ते हैं–"जी हाँ, हम जैन हैं।"

भिक्षुक पूछता है–"क्या यहाँ बौद्ध मठ है ?"

निकलंक बोलते हैं–"जी हाँ, है।" इतना सुनकर वह

भिक्षु अपने समुदाय के पास आ जाता है और सभी भिक्षुक बौद्ध मठ में पहुँचने का मार्ग पूछकर वहाँ से चले जाते हैं। तब बालकों में चर्चा चलती है। संजय कहता है–

"अकलंक! हम लोगों में से किसी बालक ने इनको नमस्कार नहीं किया अतः ये लोग बुरा मान गये होंगे।"

धनंजय बोलता है–"हाँ देखो ना, तभी तो उस तरुण भिक्षु ने पूछा कि 'क्या तुम लोग जैन हो ?" अन्यथा क्यों पूछता ?"

अकलंक बोलते हैं–"तो क्या हो गया ? मित्रों! हम लोगों का मस्तक भय से, आशा से, स्नेह से या लोभ से किसी भी हेतु से जिनेन्द्रदेव और दिगम्बर गुरु के सिवाय अन्य किसी के आगे कैसे झुक सकता है ?"

निकलंक कहते हैं–"भइया! 'आप्तमीमांसा' में तो श्री समंतभद्र स्वामी ने इन बौद्धों के संप्रदाय की बहुत ही भर्त्सना की है।"

इतना सुनकर अकलंक कुछ क्षण के लिए स्तब्ध से खड़े रह जाते हैं और विचारों में उलझकर चिंतासागर में निमग्न हो जाते हैं। उनके अभिप्राय को समझकर भी निकलंक पूछते हैं–

"भइया! आप आकस्मिक चिंतित कैसे हो गये ?"

"भाई निकलंक! क्या कहूँ ? मेरे अंतर में रह-रहकर वेदना उठती है। हे भगवन्! कौन सा ऐसा दिन आयेगा कि जिस दिन इस भारतदेश में बौद्ध धर्म का नामोनिशान भी नहीं रह जायेगा। ओह! जिधर देखो उधर तरुण-तरुण बौद्ध भिक्षु विचरण करते रहते हैं और वे जहाँ पहुँचते हैं वहीं ही कुछ-न-कुछ भोले

लोगों को बौद्धधर्म में दीक्षित कर लेते हैं।"

संजय पूछता है–"मित्र! अपने दिगम्बर गुरुओं की आज इतनी कमी क्यों है ?"

अकलंक कहते हैं–"भाई! अपने यहाँ सर्वोत्कृष्ट त्याग किया जाता है। गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास आदि सहन करने पड़ते हैं फिर भी, आज भी यत्र-तत्र जैन दिगम्बर मुनियों का संघ विद्यमान है किन्तु इन भिक्षुओं में खाने-पीने का कोई विवेक नहीं है अतएव ये लोग सरल धर्म का प्रचार करने में जल्दी सफल हो जाते हैं। फिर भी तुम्हें मालूम नहीं है क्या ? श्री पूज्यपाद स्वामी ने व्याकरण में सर्वप्रथम ही यह सूत्र रखा है कि–'सिद्धिरनेकांतात्' भाई! बिना अनेकांत के किसी भी प्रकार से किसी भी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है।"

विजय पूछता है–"भाई! क्या भारतवर्ष में इस समय ऐसा कोई भी नहीं है कि जो शास्त्रार्थ करके बौद्धों को पराजित कर दे और जैनधर्म को दिग्दिगंत व्यापी बना दे।"

अकलंक पुनः विचार सागर में डूब जाते हैं तब निकलंक कहते हैं–

"भइया! अपने को तो जैनधर्म के प्रचार के लिए कदम उठाना ही है। चलो चलें, अपने अध्ययन कक्ष में चलकर सर्वार्थसिद्धि का अभ्यास करें। गुरूजी ने आज दशम अध्याय का अंतिम सूत्र पढ़ा दिया है अब कल उसकी परीक्षा होनी है।"

विनय कुमार संजय से कहता है–"देखो मित्र! हम लोगों को खेलने का बहुत शौक है किन्तु इन अकलंक-निकलंक को

तो देखो, ये हमेशा ही कुछ-न-कुछ शास्त्र चर्चा ही किया करते हैं और इन्हें जैनधर्म के प्रचार की कितनी चिंता बनी रहती है। कई बार मैंने इन्हें बौद्ध धर्म में बढ़ते हुए आतंक को देखकर चिंतित होते हुए देखा है।''

विजय कुमार बोल उठता है–''हाँ बंधुवर! ये कोई महापुरुष होने वाले हैं ऐसा प्रतीत होता है।''

जैनधर्म के उत्थान की चर्चा करते हुए सभी बालक अपने-अपने घर आ जाते हैं।

(3)

मंत्री पुरुषोत्तम जी अपने महल में बैठे हुए हैं। पास ही उनकी गृहणी पद्मावती जी बैठी हुई हैं। दोनों ही आज विशेष प्रसन्न दिखायी दे रहे हैं। हों भी क्यों ना, उन्हें अपने लाडले बेटों के विवाह के स्वप्न साकार होते हुए दिखाई दे रहे हैं। मंत्री महोदय कहते हैं–

''सचमुच में, मैं आज अपने को बड़ा भाग्यशाली समझ रहा हूँ कि जो इन दोनों सुपुत्रों के गुणों की प्रशंसा अपने मान्यखेट नगर में ही नहीं, आस-पास के कितने ही राज्यों में विशेष रूप से हो रही है। देखो ना! कलिंग देश के राजा के दूत ने भी यही तो बताया है कि वहाँ के अमात्य भी हमारे पुत्रों के गुणों से आकर्षित हैं और वो अपनी कन्यायें इन कुमारों को देना चाहते हैं।''

पद्मावती बोलती हैं–''स्वामिन्। इन बालकों की सतत

धर्मचर्चा ने तो सारे जैन जगत में एक हलचल सी मचा दी है। सभी लोग यही कहते हैं कि ये बालक होते हुए भी गम्भीर प्रकृति के होने से वृद्ध के समान विवेकशील हैं। इनसे जैन समाज को बहुत कुछ मिलने वाला है। वास्तव में ये दोनों ही धुरंधर विद्वान् बन चुके हैं।''

पुरुषोत्तम जी कहते हैं–''देखो ना, अकलंक तो एकपाठी है उसे एक बार गुरूजी पाठ पढ़ाते हैं और याद हो जाता है और निकलंक को पुनः उस पाठ को दूसरी बार देखना पढ़ता है। यह बात निश्चित है कि ये दोनों होनहार महापुरुष हैं।''

पुरुषोत्तम जी बोलते हैं–''अच्छा, तो अब इन दोनों को बुलाओ। अपन एक बार उनके सामने विवाह की चर्चा रखना चाहते हैं क्योंकि उनकी इच्छा के अनुसार ही संबंध निश्चित किया जाना चाहिए।''

पति की आज्ञा पाकर पद्मावती धाय को बुलाकर कहती हैं–''तुम जाकर दोनों बच्चों को कहो कि तुम्हारे पिताजी बुला रहे हैं।''

''जो आज्ञा'' कहकर वह धाय उन बालकों के पास पहुँचकर उन्हें सूचना देती है। तभी अकलंक पूछ बैठते हैं–''माँ! मैं एक बात पूछूँ क्या तुम बताओगी ?''

''हाँ बेटे! पूछो, क्यों नहीं बताऊँगी।''

''यह महल की सजावट, इतना बड़ा आयोजन भला आजकल में क्यों किया जा रहा है ?''

धाय हंसकर बोलती है–''वाह, तुम्हें पता ही नहीं। अरे

तुम्हारे दोनों के मंगल विवाह महोत्सव को सम्पन्न करने के लिए ही तो यह सब शोभा की जा रही है, और तुम्हें पता ही नहीं ?''

आश्चर्यचकित हो दोनों बोल उठते हैं–

''विवाह! क्या सच में ऐसी बात है....क्या अभी पिताजी हमें इसीलिए बुला रहे हैं ?''

''हो सकता है यही चर्चा आपसे करनी हो।''

''अच्छा, तो आप चलिये मैं कुछ क्षणों में ही आ रहा हूँ।''

धाय को वापस करके अकलंक-निकलंक से पूछते हैं–

''क्या भाई! तुम्हें याद है जब कि हम दोनों ने बचपन में मुनिराज चित्रगुप्त के समीप में ब्रह्मचर्यव्रत लिया था।''

''हाँ-हाँ, भाई हमें पूर्णरूप से याद है। अतः अब विवाह की चर्चा कैसी ? अपने को तो जैनधर्म के प्रचार के लिए समर्पित हो जाना है।''

''तो भाई! आप दृढ़संकल्प हैं ?''

''हाँ भाई! मैं सदा ही दृढ़संकल्प रहूँगा।''

''तो फिर चलो, हम दोनों पिताजी के सामने अपना निर्णय सुना दें।''

इतना कहकर दोनों उठकर पिता के समक्ष उपस्थित होते हैं। घुटने टेक कर–

''पिताजी प्रणाम।''

''आयुष्मान् रहो बेटे! आओ, आओ, यहाँ मेरे पास में बैठो।''

दोनों को बुलाकर बड़े प्रेम से हाथ पकड़कर अपने पास बिठा लेते हैं।

पुनः मंद मुस्कान बिखेरते हुए बोलते हैं–

''बेटे! अब तुम दोनों युवावस्था में प्रवेश कर चुके हो अतः अब तुम्हें अपने इन बलवान कंधों पर गृहस्थाश्रम के भार को वहन करना है।''

अकलंक हाथ जोड़कर बोलते हैं–

''पूज्य पिताजी! क्या आप भूल गये ? आपने ही तो हमें महामुनि चित्रगुप्त के सांनिध्य में ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था। पुनः गृहस्थाश्रम के भार के वहन का भला क्या सवाल उठता है ? हम दोनों तो...।''

बीच में ही बात काटकर पुरुषोत्तमजी विस्मयपूर्ण शब्दों में बोल उठते हैं–

''अरे! ब्रह्मचर्य व्रत ? कब, भता मैंने तुम्हें कब दिलाया है ?''

निकलंक बोलते हैं–

''हाँ पिताजी! याद कीजिये, जब आष्टान्हिक महापर्व में मंदिरजी के बगीचे में मुनिराजश्री पधारे थे तब आपने भी व्रत लिया था और हम दोनों को भी दिलाया था।''

कुछ क्षण सोचकर मंत्रीजी बोलते हैं–

''मेरे प्यारे पुत्रों! उस समय तो मैंने मात्र आठ दिन के लिए ही ब्रह्मचर्य लिया था और तुम दोनों को भी हंसी-हंसी में व्रत दिला दिया था।''

अकलंक ने कहा–''पूज्यवर! व्रतों को दिलाने में भला हंसी की क्या बात है ?''

पिताजी कहते हैं–

"बेटे! उस समय व्रत यदि दिलाया भी गया था तो केवल महापर्व में आठ दिन के लिये ही दिलाया था न कि हमेशा के लिये ...प्यारे पुत्रों! तुम आज कैसी बातें कर रहे हो ? ओह! ....हमने तुम दोनों से कितनी आशायें कर रखी हैं, क्या तुम हमारे सारे अरमानों पर पानी फेर दोगे ?"

इतना कहते-कहते पुरुषोत्तमजी का गला रुंध जाता है और उनकी आँखों में अश्रु आ जाते हैं। पद्मावती भी विह्वल हो उठती हैं और कहती हैं–

"प्यारे पुत्रों! उस समय व्रत तो केवल आठ दिन के लिये ही दिलवाया गया था पुनः तुम दोनों ही ऐसा क्यों सोच रहे हो ?"

अकलंक बोलते हैं–

"माताजी! उस समय हम दोनों के लिये तो आठ दिन की कोई बात आई ही नहीं थी। अतः हम दोनों ने तो जीवन भर के लिये नियम ले लिया था। आप चिंन्ता क्यों करती हैं। आपके सुपुत्र जैनधर्म की ध्वजा फहराने का संकल्प कर चुके हैं इसलिये आपको प्रसन्नता होनी चाहिये।"

पुनः निकलंक कहते हैं–

"माताजी! भइया बात तो सही ही कह रहे हैं। देखो, संसार में सभी माताएँ अपने पुत्रों का विवाह रचाकर घर बसा देती हैं और मोह बढ़ाकर उसी में फँसी रहती हैं। विरले ही ऐसी मातायें होती हैं जिनके पुत्र धर्म के मार्ग में चलकर दूसरों को भी मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन कराते हैं, उन माताओं की तो आचार्य भी प्रशंसा करते हैं।"

माता कहती हैं–

"पुत्रों! तुम दोनों कितने निर्मोही बन गये हो ? क्या तुम्हारे वियोग को हम दोनों सहन कर सकेंगे ? ओह!...बिना बहुओं के और बिना छोटे-छोटे बच्चों के यह घर कैसे हरा-भरा दीखेगा ? विधाता ने यह क्या कर डाला ? हम दोनों की इच्छाओं पर यह कैसा वज्राघात हो रहा है ?..."

इतना कहते-कहते वह रुदन करने लगती हैं। पुनः पास में बैठे हुये अकलंक-निकलंक के सिर पर हाथ फेरते हुए बोलती हैं–

"प्यारे पुत्रों! तुम दोनों ही मेरी बात मानो और तुम जैसी कन्या चाहते हो वैसी सुलभ हैं। तुम्हारे लिए तो पता नहीं कितने लोग अपनी-अपनी कन्यायें देने की चर्चा कर चुके हैं।"

अकलंक बोलते हैं–

"माताजी! संसार में यह मोह ही इस जीव को अनादि काल से भ्रमण करा रहा है। आप सोचो तो सही, आपने इस अनंत संसार में किसको तो पुत्र रूप से जन्म नहीं दिया है और किसकी तो आप माता नहीं हुईं हैं ? तो क्या यह माँ-बेटे का संबंध चिरस्थायी है, शाश्वत है ? क्या जिनके पुत्रों ने विवाह करके घर को हरा-भरा कर रक्खा है उनकी मातायें पूर्णतया सुखी हैं ? और यदि सुखी भी हैं तो कितने दिन के लिये ? चंद दिनों के लिए ही ना, पुनः उन्हें मृत्यु का सामना तो करना ही पड़ता है, तब यहाँ का संबंध यहीं तो समाप्त हो जाता है। क्या आपने सुकौशल की माता सहदेवी का उदाहरण नहीं सुना है।

माता! आप स्वयं विदुषी हो। आपने ही तो हम दोनों पर धर्म के अमिट संस्कार डाले हैं। पुनः हम लोग क्या आपको शिक्षा देने के लिये साहस कर सकते हैं ? नहीं! अतः अब आप हम लोगों के विवाह का हठ छोड़ो ओर ऐसा आशीर्वाद दो कि हम दोनों भाई अखंड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए धर्म की प्रभावना में अपनी सर्वशक्ति लगा दें।''

कुछ क्षण वातावरण शांत हो जाता है। उसके बाद पिता पुरुषोत्तम जी बोलते हैं–

''बेटे अकलंक-निकलंक! देखो सदा से ही अपनी सनातन परंपरा यह रही है कि पहले विवाह करके गृहस्थाश्रम को चलाना। उसमें धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों का विधिवत् सेवन करना, पुनः घर छोड़कर दीक्षा लेना और मोक्ष पुरुषार्थ को साधना। पुत्रों! तुम्हारी यह कोमल वय ब्रह्मचर्य जैसे कठोर व्रत को ग्रहण करने की नहीं है। अभी तुम विवाह करो और अपना घर तथा मेरा यह मंत्रीपद का भार संभालो और मैं अब निवृत्तिमार्ग में लगूँ। पुनः जब मेरी अवस्था में तुम दोनों आओगे, तब ब्रह्मचर्य व्रत ले लेना।''

अकलंक कहते हैं–

''पूज्य पिताजी! सूक्ति तो यही है कि–

'प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्।'

कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा कीचड़ में नहीं फँसना ही अच्छा है। हे तात! उसी प्रकार विवाह करके बंधन में फँसकर पुनः छोड़ना और ब्रह्मचर्य व्रत लेकर तपश्चरण करना,

इसकी अपेक्षा गृहस्थाश्रम में नहीं फँसना ही श्रेयस्कर है।''

पिताजी निकलंक की ओर देखने लगते हैं तब वे बोलते हैं–

''हां, पिताजी! भइया जो कह रहे हैं सो बिल्कुल ठीक ही कह रहे हैं और फिर जब हम दोनों ने ब्रह्मचर्य व्रत ले ही रक्खा है तो फिर अधिक सोचने की भी अब क्या जरूरत है। अब तो आप हम दोनों के विवाह की चर्चा ही समाप्त कीजिये।''

जब पुरुषोत्तम जी अपने पुत्रों का दृढ़ निश्चय देख लेते हैं तब मोह के निमित्त से कुछ क्षण तक उदास मुख किये बैठे रहते हैं पुनः कुछ सोचकर कहते हैं–

''अच्छा, बेटे! जो तुम्हारा निर्णय हो चुका है उसमें मैं बाधक नहीं बनना चाहता हूँ।''

पुनः पत्नी की तरफ देखते हुए बोलते हैं–

''पद्मावति! तुम भी मोह छोड़कर इनके सत्कार्य की सराहना करो ओर अपना सौभाग्य समझो कि जो तुम्हारे लाड़ले बेटे जैन शासन की रक्षा में सर्वस्व समर्पण के लिये दृढ़संकल्प हो चुके हैं।'' पुनः पुत्रों से पूछते हैं–

''बेटे! अभी तुम्हारा धार्मिक अध्ययन कितना बाकी है ? बताओं मैं तुम्हारे अध्ययन की और समुचित व्यवस्था कर दूँ।''

अकलंक-निकलंक प्रसन्न हो बोल उठते हैं–

''पिताजी! अभी हम दोनों का अध्ययन बहुत कुछ शेष है। हम लोग व्याकरण, छंद, अलंकार और शब्दकोश में पूर्ण निष्णात हो चुके हैं फिर भी जैनदर्शन के साथ अन्य दर्शन-शास्त्रों का भी विशेष अध्ययन करना चाहते हैं।''

"अच्छा पुत्रों! मैं उन ग्रंथों की और उनके विद्वानों की भी व्यवस्था कर दूँगा।"

"बहुत अच्छा पिताजी!"

कुछ क्षण बाद सब यथास्थान चले जाते हैं। अकलंक-निकलंक भी अपने अध्ययन कक्ष में चले जाते हैं।

(4)

महामात्य पुरुषोत्तम जी अपने आसन पर विराजमान हैं अकलंक-निकलंक प्रवेश करते हैं और घुटने टेक कर हाथ जोड़कर बोलते हैं–

"पिताजी, प्रणाम!"

"आयुष्मान् हो बेटे! आओ।"

दोनों के मस्तक पर हाथ फेरते हुए बड़े प्यार से अपने आजू-बाजू में बिठा लेते हैं और पूछते हैं–

"कहो बेटे! तुम्हारा अध्ययन ठीक चल रहा है ?"

"हाँ, पिताजी! आपकी कृपा से बहुत ही अच्छा हो रहा है। फिर भी पिताजी, हम दोनों आज आपके समक्ष कुछ निवेदन करने के लिए आये हैं।"

" कहो पुत्रों, कहो, जो भी कहना हो निःसंकोच होकर कहो ?"

" पिताजी! आजकल बौद्ध संप्रदाय का प्रचार-प्रसार बहुत ही जोरों से हो रहा है। उन लोगों ने तो जैनों पर गजब का आतंक मचा रखा है। इनको परास्त करके जैनधर्म का प्रचार-प्रसार हम कैसे करें ? क्या करें ? हम दोनों को बहुत ही चिंता

हो रही है।"

"बोलो, तुम दोनों मेरे से क्या सहयोग चाहते हो ? बोलो, मैं महाराजा शुभतुंग का महामंत्री हूँ। तुम्हें मालूम ही है कि महाराजा साहब का मेरे प्रति और तुम दोनों के प्रति भी असीम स्नेह है। वे जब-तब तुम दोनों की प्रशंसा किया ही करते हैं।"

"पूज्य पिताजी! अभी मुझे राजा की या आपके सहयोग की कोई भी अपेक्षा नहीं है। मात्र हम दोनों बौद्धदर्शन के शास्त्रों का पूर्णतया अध्ययन करना चाहते हैं कि जिससे उनके सिद्धान्तों का स्याद्वाद के बल पर हम खंडन कर सकें।"

कुछ सोचकर पिताजी कहते हैं–

"बेटे! आजकल जितने बौद्ध विद्यालय हैं उनमें वे लोग जैनों को प्रवेश नहीं देते हैं। पुनः तुम उनके ग्रंथों का सूक्ष्म अध्ययन कैसे कर सकोगे ?"

"पूज्यवर! मैंने ऐसा सोचा है कि कुछ दिन के लिये हम दोनों कृत्रिम रूप से बौद्ध के संप्रदाय को अपना लेंगे और उनके विद्यालय में भर्ती होकर अध्ययन कर लेंगे।

पिता कुछ क्षण सोच-विचार में पड़ जाते हैं। पुनः उनकी विचारधारा के प्रवाह को भंग करते हुए निकलंक बोलते हैं–

"पूज्यवर! हम लोगों ने सुना है कि 'महाबोधि' नाम का एक बहुत बड़ा महाविद्यालय इन बौद्धों का है जो कि राजगृही के निकट है...।"

बीच में निकलंक की बात को काटकर अकलंक बोलते हैं–

"पिताजी! हम दोनों वहीं जाकर इनके शास्त्रों का अध्ययन

करना चाहते हैं।''

पिताजी कुछ उन्मनस्क होकर कहते हैं–

''बेटे! तुम्हे पता नहीं है कि बाहर पढ़ने में कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं।''

अकलंक कहते हैं–''पूज्य पिताजी! बौद्धों के गूढ़ तत्त्वों का अध्ययन करके उनका खंडन करने में कष्ट तो उठाने ही पड़ेंगे। हम आप जैसे वीरों की संतान हैं फिर भला जैनशासन की रक्षा के लिए कष्टों से डरना क्या ?''

आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी कहते हैं–

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना।।

संसार में जो अंधकार व्याप्त हो रहा है, जैसे बने वैसे उसको दूर करके जिनशासन के माहात्म्य को प्रकट करना ही तो प्रभावना है।

अतः हे पिताजी! अब आप खुशी से आज्ञा दीजिये और साथ ही यह आशीर्वाद दीजिये कि हम दोनों अपने संकल्प में सफल हों।''

''अच्छा पुत्रों! ठीक है, तुम दोनों जाओ परन्तु ध्यान रखो बहुत ही सावधान रहना और वहाँ जैनधर्म के विषय में बिल्कुल मूर्ख बने रहना, जिससे तुम्हें वे लोग कुछ बाधा न पहुँचा सकें।''

दोनों बालक प्रसन्न होकर पिता को नमस्कार कर उनके चरणों का स्पर्श करते हैं और पिताजी मस्तक पर हाथ फेरकर आशीर्वाद देते हुए उन दोनों को विदा करते हैं।

पिता के पास से चलकर वे दोनों अपनी माता के पास पहुँचते हैं–

''माताजी प्रणाम!''

''चिरंजीव रहो बेटे! आओ, आज तो दोनों बहुत ही प्रसन्न दिखाई दे रहे हो। कहो क्या आज कोई विशेष बात हुई है ?''

अकलंक बोल उठते हैं–

''हाँ माताजी! आज बहुत ही विशेष दिन हमारे जीवन में आया है। इसीलिए हम दोनों बहुत ही खुश दिखाई दे रहे हैं।''

''कहो क्या विशेष लाभ तुम्हें मिला है ?''

''माता! आज हम लोग अपने संकल्प की पूर्ति के लिये पिताजी से आज्ञा प्राप्त कर चुके हैं और अब आप से आज्ञा लेने आये हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि आप भी खुशी-खुशी आज्ञा दे देंगी।''

''माता पुत्रों का मुख देखते हुए विस्मय से पूछती हैं–

''वह क्या आज्ञा है कहो तो सही ?''

माताजी! हम दोनों 'महाबोधि' नामक महाविद्यालय में पढ़ने के लिए जाना चाहते हैं।''

माता एकदम विह्वल हो जाती हैं और कहती हैं–

''ऐं!! महाबोधि विद्यालय क्या यहाँ निकट में है ? बेटे! वह तो इस मान्यखेट नगर से बहुत ही दूर है। और फिर वह तो बौद्धों का विद्यालय है। तुम्हारे पिताजी ने क्या यह नहीं बताया कि वहाँ पर तो जैनों का नाम भी लेने वाला दंडित किया जाता है।''

''माताजी! हमें पिताजी ने सभी बातें बतला दी हैं। हम

दोनों ने यह संकल्प किया है कि बौद्ध संप्रदाय के गहन तत्त्वों को अच्छी तरह से समझना, पुनः स्याद्वादरूपी शस्त्र से उनको छिन्न-भिन्न कर देना। अतः इसी उद्देश्य से ही हम दोनों बौद्ध के वेष में जाकर ही वहाँ पढ़ेंगे पुनः अपने जैनशासन की प्रभावना करेंगे।''

माता कुछ क्षण के लिये चिन्तित मुद्रा में हो जाती हैं।

पुनः कहती हैं–

''पुत्रों! पहले तो तुम दोनों ने विवाह का प्रस्ताव ठुकरा दिया, उससे हम दोनों को बहुत ही कष्ट हुआ। फिर भी तुम दोनों का मुख देखते हुए हम दोनों जैस-तैसे संतोष को धारण करते रहते हैं। ओह! अब तुमने हमारी आँखों से भी ओझल होना सोच लिया है। क्या तुम दोनों मुझे अब जीवन भर रुलाना ही चाहते हो ?''

अकलंक और निकलंक एक साथ बोल पड़ते हैं–

''नहीं, माताजी नहीं, आप ऐसा क्यों सोच रही हैं, जब आपके सुपुत्र धर्म की ध्वजा को चारों तरफ फहरायेंगे तब आपके दुःखाश्रु नहीं आयेंगे प्रत्युत हर्षाश्रु आयेंगे और आप अपने जीवन को धन्य समझेंगी।''

''पुत्रों! पता नहीं वह दिन कब आयेगा ?''

इसी मध्य पद्मावती की पहले दाहिनी भुजा फड़कने लगती है, पुनः बायीं आँख और बायीं भुजा उज्ज्वल भविष्य की शुभ सूचना देने लगती है। पद्मावती चिंतित होती हुई कुछ व्यग्र हो जाती है पुनः धैर्य के साथ बोलती हैं–

''प्यारे पुत्रों! पता नहीं, विदेशियों के स्थान पर रहकर

तुम्हें किन-किन कष्टों का सामना करना पड़े।....मेरी दाहिनी भुजा भी पता नहीं क्या कह रही है ?''

''माताजी! आप केवल मोह के वश होकर ही ऐसा सोच रही हैं। अरे! भला आप जैसी 'वीरप्रसूता' माता की संतान होकर हम लोग कष्टों से घबराने वाले हैं। मातः! हम दोनों वीर बालक तो कष्टों का आह्वान करके उनसे टक्कर लेंगे और एकांत क्षणिक मत का विध्वंस करके अपने जैनशासन को विश्वव्यापी बनायेंगे। जिस जैनधर्म की शरण में आने से मनुष्य क्या पशु-पक्षी भी परम्परा से अपनी आत्मा को परमात्मा बना चुके हैं।''

पुनः निकलंक कहते हैं–

''माताजी! आप हम दोनों के विषय में किंचित् भी अनिष्ट की आशंका न करें। आप तो हम दोनों को शीघ्र ही जाने की आज्ञा दें और मंगल आशीर्वाद देवें।''

पद्मावती जब इन दोनों के दृढ़ निश्चय को देख लेती हैं तब वे विवश हो दोनों के मस्तक पर बार-बार वात्सल्य का हाथ फिराते हुए सैकड़ों आशीर्वाद देती हैं। दोनों बालक नमस्कार कर चरण स्पर्श करते हैं।

''बेटा अकलंक! देखो यह निकलंक अभी छोटा है। बाहर में इसकी सम्भाल रखना तुम्हारा परम कर्तव्य है।''

इतना कहते-कहते पद्मावती के नेत्र सजल हो जाते हैं और वह अमंगल की आशंका से अपने अश्रुओं को रोकती हुई पुनः रुँधे हुए कंठ से बोलती हैं–

''जाओ पुत्रों! तुम दोनों का आपस का प्रेम राम और

लक्ष्मण के समान बना रहे तथा देशभूषण और कुलभूषण के समान आपने कार्य में सिद्धि प्राप्त करो।''

माता का आशीर्वाद प्राप्त कर ये दोनों युवक जिनमंदिर में जाकर जिनेन्द्रदेव की पूजा वंदना करके पुनः गुरुओं की वंदना करके उनका आशीर्वाद ग्रहण कर राजगृही नगर की तरफ प्रस्थान कर देते हैं।

(5)

महाबोधि विद्यालय का भवन बहुत ही विशाल है। काफी दूर तक कमरे बने हुए हैं। मध्य में बौद्धधर्म के दिग्गज विद्वान् प्राचार्यजी का निवास स्थान है। ये दोनों बालक प्राचार्य के दरवाजे पर पहुँच कर कर्मचारी से कहते हैं कि हमें प्राचार्य के दर्शन करना है। वह अंदर जाता है और बोलता है–

''गुरु जी! दो नये लड़के आये हुए हैं। वे आपके दर्शन करना चाहते हैं।''

''अंदर आने दो।''

अकलंक-निकलंक अंदर पहुँच कर गुरूजी का अभिवादन करते हुए कहते हैं–

''गुरू जी प्रणाम!''

''आयुष्मान् रहो बेटे! आओ बैठो!'' इतना कहते हुए गुरूजी उन दोनों तेजस्वी बालकों को अपने पास में बिठा लेते हैं पुनः पूछते हैं–

''कहो बच्चों! आप कहाँ से आ रहे हैं ?''

''गुरुजी! हम दोनों मान्यखेट शहर के पास के एक छोटे से गाँव से आ रहे हैं।''

''तुम्हारे पिता का क्या नाम है ? और तुम दोनों का क्या नाम है ?''

''मेरे पिता का नाम अर्जुन सिंह था, अब वे नहीं रहे हैं। उनकी बहुत इच्छा थी कि हम दोनों बौद्ध धर्म के कुशल विद्वान् बनें। इसीलिये हम उनकी भावना को पूर्ण करने के लिए आपकी शरण में आये हैं। हमारा नाम अकलंक है और यह मेरा छोटा भाई है, इसका नाम निकलंक है।''

प्रसन्न होकर गुरुजी बोलते हैं–

''बहुत अच्छा पुत्रों! तुम बड़े भाग्यशाली दिखते हो। यहाँ तुम्हारी सारी व्यवस्था हो जायेगी, तुम सुख से खूब पढ़ाई कर सकोगे।''

गुरूजी एक क्षण के लिए तो इनसे प्रभावित हो जाते हैं पुनः मन में सोचने लगते हैं कि ये कोई छली तो नहीं हैं कि जो जैन हों और आगे चलकर हमारे ही शस्त्र से हमारा ही घात करने लग जायें, अतः वे पुनः बोलते हैं–

''अच्छा बच्चों! मैं तुमसे कुछ प्रश्न करूँगा, बताओ तुम प्रातः उठकर किसका नाम स्मरण करते हो ?''

''गुरुजी! हम प्रातः उठकर बुद्धदेव का स्मरण करते हैं और बोलते हैं–

'बुद्धं शरणं गच्छामि!!' 'धम्मं शरणं गच्छामि!!' 'संघं शरणं गच्छामि!!'

गुरूजी प्रसन्न हो जाते हैं और पुनः पूछते हैं–

"अच्छा बताओ, बौद्ध धर्म के प्रवर्तक कौन हुए हैं ?" अकलंक बोलते हैं–

"कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ ने बौद्ध धर्म का प्रवर्तन किया है। दीक्षा लेने के बाद उनका नाम "गौतम बुद्ध' प्रसिद्ध हुआ है।"

"बौद्ध धर्म का मुख्य सिद्धांत क्या है ?"

"सर्व क्षणिकं सत्त्वात्। सभी चेतन-अचेतन वस्तुएँ क्षणिक हैं क्योंकि वे सत् रूप हैं। क्षण-क्षण में नष्ट होना यही प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है और यही क्षणिकपना ही बौद्ध धर्म का मूल सिद्धांत है।"

"शाबाश बेटे शाबाश!! अच्छा यह बताओ कि जैनों का मूल सिद्धांत क्या है ? और सांख्यों का मुख्य सिद्धांत क्या है ?"

अकलंक नाक भौंहें सिकोड़कर–

"गुरूजी! जैनों का तो मूल सिद्धांत है 'अनेकांत' जो कि बिना पेंदी का लोटा है अतः उसका तो हम लोग नाम सुनना भी पसंद नहीं करते हैं। मेरे पिताजी को तो इस अनेकांत नाम से बहुत ही चिढ़ थी और हम लोग भी हमेशा बच्चों में इसकी खिल्ली उड़ाया करते थे तथा सांख्यों का मूल सिद्धांत है 'वस्तु की नित्यता' वे प्रत्येक वस्तु को कूटस्थ नित्य मानते हैं। परन्तु वे भी निरे मूर्ख हैं भला प्रत्येक वस्तु को सर्वथा नित्य मानने से हम बालक से तरुण कैसे हो गये ? तो यह भी हमारे गले नहीं उतरता है। हमें तो प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण बदलती हुई ही दिखाई

देती है और इसीलिये हम बुद्ध भगवान् के परम भक्त हैं।"

"बहुत ठीक, बहुत ठीक! अच्छा बच्चों। तुम अब यहाँ पर अध्ययन कर सकते हो।"

पुनः गुरूजी कर्मचारी को बुलाते हैं–

"गुरुदास! गुरुदास!"

कर्मचारी हाथ जोड़कर उपस्थित हो जाता है–

"आज्ञा दीजिये!"

"हाँ, देखो प्रबन्धक महोदय से कहो कि इन दोनों बच्चों के लिए यहाँ रहने का पूरा प्रबन्ध कर दें।"

"जो आज्ञा।"

दोनों बालक चपरासी के साथ चले जाते हैं।

(6)

महाबोधि विद्यालय का उद्यान स्थान है। चारों तरफ से गुलाब, चमेली, मौलसिरी आदि फूलों की सुगन्धि फैल रही है और मन्द, सुगंध पवन बह रही है। पास में मयूर अपने पंख फैलाये नाच रहे हैं और आम्र की मंजरियों पर कोयलों की कुहू-कुहू हो रही है जो कि कानों को अतिशय प्रिय लग रही है। गुरूजी एक ऊँचे आसन पर विराजमान हैं और उनके सामने बहुत से छात्र पुस्तकें लेकर बैठे हुए हैं। अकलंक-निकलंक दोनों ही कुछ देर से आते हैं और पीछे ही बैठ जाते हैं। गुरूजी का लक्ष्य इन दोनों नवीन विद्यार्थियों की ओर चला जाता है और वे पूछने लगते हैं–

"क्यों अकलंक! तुम देर से क्यों आये ?"

अकलंक डरते हुए और शब्दों को स्खलित करते हुए बोलते हैं-

"गुरू....जी! मैं....कुछ लड़कों के साथ खेलने में लग गया था।"

"अच्छा अब ध्यान रखो, कक्षा में पाठ प्रारंभ होने से पहले ही उपस्थित हो जाया करो।"

"अच्छा गुरूजी!"

पुनः गुरूजी पूछते हैं–

"अकलंक! 'अहं पठितुं विद्यालयं गच्छामि' इसका कर्मणि प्रयोग क्या होगा ?"

"मया पठित्वा विद्यालये गम्यंते"

गुरुजी झुंझलाकर–

"अरे मूर्खों! तुम दोनों इतनी दूर से तो पढ़ने आये हो, सूरत-शकल से तो बहुत ही कुशल दिखते हो परन्तु कैसे पढ़ोगे? कई दिनों से तुम्हें कर्तरि और कर्मणि प्रयोग सिखाये जा रहे हैं परन्तु आज तक भी तुम शुद्ध वाक्य नहीं बना सके। अच्छा निकलंक! तुम बोलों, जैनों ने कितने तत्त्व माने हैं ? और उनका खंडन तुम कैसे करोगे ?"

"जैनों ने पाँच तत्त्व माने हैं– जीव, धर्म, आकाश, पुद्गल और अजीव। उन्होंने इनमें से जीव और पुद्गल को अमूर्तिक माना है और आकाश, अजीव तथा अधर्म को मूर्तिक माना है। वे कहते हैं कि ये सब क्षणिक भी हैं और नित्य भी हैं सो भला जो वस्तु क्षण-क्षण में नष्ट हो रही है वह नित्य कैसे रहेगी ?

बस ऐसे ही इनका खण्डन कर देंगे।"

गुरुजी माथा ठोककर–

"अरे रे!! तू भी निरा मूर्ख है, बैठ जा, मुझे तो ऐसा लगता है कि ये दोनों भाई कोरे मूर्ख ही रहकर यहाँ से जायेंगे, कुछ ग्रहण करके नहीं।"

अच्छा, प्रतापचंद! तुम बोलो जैनों ने कितने तत्त्व माने हैं। हाँ, देखो सोच समझकर बोलना, वरना तुम भी इन्हीं मूर्खों की कोटि में खड़े किये जाओगे।"

जल्दी से खड़े होकर–

"गुरूजी! जैनों ने तत्त्व सात माने हैं– जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।"

"ठीक, बहुत ठीक।"

"अच्छा शैलेश! तुम बोलो बुद्ध भगवान ने निर्वाण का क्या लक्षण बतलाया है ?"

"जैसे दीपक बुझ जाता है तो वह न दिशा में जाता है, न विदिशा में, वह समाप्त हो जाता है। वैसे ही यह आत्मा जब निर्वाण में जाता है तब न दिशा में जाता है न विदिशा में, इसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। यही बुद्ध भगवान् ने निर्वाण का लक्षण बतलाया है।"

"विजयकीर्ति! तुम बताओ बौद्धों के यहाँ तत्त्व कितने होते हैं ?"

"चार होते हैं।"

"अकलंक! तुम बोलो उनके नाम–"

"हाँ, गुरूजी! सुनिये, दुःख, उनके मार्ग और सुख तथा उसका मार्ग।"

"अरे, अरे! बिल्कुल बुद्धू हो, चुप रहो....।'

"अच्छा विमलकीर्ति! तुम सही-सही बता सकते हो ?"

"हाँ गुरूजी! दुःख, समुदय, तन्निरोध और मार्ग ये चार तत्त्व हैं।"

"अच्छा निकलंक! जल के नाम बताओ ?"

"भूमिर्भूः पृथिवी पृथ्वी....' इतना सुनते ही सब लड़के हँस पड़ते हैं और गुरूजी तमतमा उठते हैं और बोलते हैं–

"देखो बच्चों! ये तुम्हारे साथी कितने जड़बुद्धि हैं। भला सोचो तो सही उनको कैसे पढ़ाया जाय ?"

इसी बीच में निकलंक कांपते हुए अकलंक का मुख देखने लगते हैं और अकलंक छोटे भाई को दृष्टि से सान्त्वना देते हुए अपना माथा नीचे झुका लेते हैं।

कक्षा समाप्त होने पर सब लोग यथास्थान चले जाते हैं।

(7)

अकलंक-निकलंक बगीचे में टहल रहे हैं और निर्भीक होकर वार्तालाप कर रहे हैं–

"भइया! अपने को यहाँ रहते हुए बहुत दिन व्यतीत हो चुके हैं। अब घर चलना चाहिये।"

हँसते हुए–

"क्यों निकलंक! क्या माता-पिता की याद आ रही है ?

क्या मेरे द्वारा तुम्हें कोई कष्ट हो रहा है ?"

"नहीं-नहीं भइया, तुम ऐसा कैस कह रहे हो।....भइया हमें यही चिन्ता हो रही है कि अब जल्दी चलें और जैनधर्म की प्रभावना करें। अब आप तो सब कुछ समझ ही चुके हो।

अच्छा भइया, यह तो बताओ। आज जो गुरूजी ने पढ़ाया है कि 'अभिधम्म' नामक पिटक में क्या वर्णन है ? आप तो इधर-उधर देखते रहते हैं, मैंने एक बार सुना था अतः भूल गया हूँ।"

"भइया निकलंक! मैं एक बार सुनता हूँ और मुझे वह विषय कंठाग्र हो जाता है अतः मैं कापी में भी कुछ लिखता हूँ कुछ छोड़ देता हूँ।"

"भइया! तुम्हें तो एक बार सुनने मात्र से ही याद हो जाता है इसलिये आज का यह विषय हमें दूसरी बार समझा दो।"

"सुनो, "विनयपिटक" में संघ के नियमों का वर्णन है, 'सुत्तपिटक' में बुद्ध भगवान् के वार्तालाप और उनके उपदेशों का वर्णन है तथा 'धम्मपिटक' में दार्शनिक विचारों का संग्रह है।....इतने में ही अन्य कुछ छात्र आ जाते हैं और एक छात्र अकलंक के हाथ से कापी ले लेता है, पेज उलट-पलट कर देखते हुए व्यंगपूर्वक कहता है–

"वाह, खूब रही, तुम तो इतने बड़े विद्वान् हो कि शायद बुद्ध भगवान् को भी पीछे डाल दोगे।"

इतना सुनकर सभी छात्र हँस पड़ते हैं और कहते हैं–

"हाँ मित्र! हम लोगों ने भी इनकी कापियाँ कई बार देखीं हैं। उसमें सब प्रकरण अधूरा ही रहता है। तभी तो गुरूजी कहते

हैं कि ये निरे मूर्ख हैं।''

''अच्छा अकलंक! ''नैरात्म्यवाद का क्या अर्थ है ?''

''सुनो विनयकीर्ति, मैं तुम्हें समझाता हूँ। नैरात्म्य का अर्थ है शून्य। तो भइया न बुद्ध भगवान् हैं, न उनका कोई संप्रदाय है, न उनके अनुयायी साधु हैं, न हम हैं और न तुम हो, बस कुछ भी नहीं है।''

पुनः सभी छात्र खिलखिला कर हँस पड़ते हैं। उधर से घंटी की आवाज आती है और अकलंक-निकलंक आदि सभी छात्र एक साथ मिलकर कक्षा के प्रांगण में चले जाते हैं। प्रार्थना शुरू होती है पुनः सभी छात्र अपनी-अपनी कक्षा में चले जाते हैं। कुछ छात्र गुरु के सानिध्य में बैठ जाते हैं और अध्ययन शुरू हो जाता है। गुरूजी कहते हैं–

''बच्चों सुनो, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक ये बौद्धों के चार भेद हैं।''

''माध्यमिक बाह्य-आभ्यंतर समस्त वस्तु को शून्य मानते हैं। योगाचार बाह्य वस्तु का अभाव मानते हैं। सौत्रान्तिक बाह्य वस्तु को अनुमान का विषय मानते हैं और वैभाषिक बाह्य वस्तु को प्रत्यक्ष कहते हैं। समझ गये सभी लोग!!''

सभी एक स्वर में बोल उठते हैं–

''हाँ, गुरूजी समझ गये।''

''अच्छा और सुनो, आज हम तुम्हें सभी के प्रमुख सिद्धांतों के कुछ-कुछ नाम बताकर उनके खंडन करने की प्रक्रिया समझायेंगे। देखो बच्चो, सब लोग इधर देखो–

चार्वाक के मत में भूतचैतन्यवाद है और प्रत्यक्ष एक प्रमाणवाद है। सांख्य प्रकृति को ही कर्ता मानता है अतः प्रकृति कर्तृत्ववाद, अचेतनज्ञानवाद, सत्कार्यवाद और नित्य एकांतवाद आदि उनके मौलिक सिद्धांत हैं। नैयायिक और वैशेषिक ये दोनों ही षोडश-पदार्थवाद, सप्त पदार्थवाद, सन्निकर्षवाद और समवायवाद का प्रतिपादन करते हैं। मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं और अभाव प्रमाणवादी हैं तथा शब्द को नित्य मानते हैं। और हम लोग....बौद्ध लोग निर्विकल्पवाद, साकारज्ञानवाद, क्षणभंगवाद, शून्यवाद, अपोहवाद आदि को मानते हैं। और जैन लोग.....ह ह ह ह ह। .....ये लोग तो नित्यानित्यवादी हैं। ये अपने को अनेकांतवादी कहते हैं। अ ह ह ह ह....ये बस संशयवादी हैं, न इधर के हैं न उधर के हैं बस इनकी दशा 'त्रिशंकु' के समान है जो कि आकाश में अधर ही लटकता रहता है। बच्चों! समझ गये।''

सभी एक स्वर में–

''हाँ गुरूजी! समझ गये।''

''अच्छा, प्यारे बच्चों! अब मैं तुम्हें सप्तभंगी का लक्षण समझाकर उसके खंडन करने की शैली बतलाऊँगा। सब लोग ध्यान से सुनो।''

गुरूजी फलक पर एक श्लोक लिख देते हैं–

'विधेयं वार्य चानुभयमुभयं मिश्रमपि तत्,
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः।
सदान्योन्यापेक्षैः सकलभुवनजयेष्ठगुरुणा,
त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षालंघनात्।।'

देखो जैन कहते हैं जो वस्तु विधिरूप है, वही निषेधरूप है, वही अनुभय रूप है, वही उभयरूप है और वही मिश्ररूप है।.... अहा हा हा क्या खूब रही। देखो बच्चों 1. जो गधा है 2. वही गधा नहीं है अर्थात् वही घोड़ा है 3. वही न गधा है न घोड़ा है 4. वही गधा भी है घोड़ा भी है, 5. वही गधा है और न गधा है न घोड़ा है, 6. वही घोड़ा है न गधा है न घोड़ा है, 7. वही गधा है, घोड़ा है और न गधा है न घोड़ा है....।

सभी बच्चे बीच में ही खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं। पुनः गुरुजी कहते हैं–

"हाँ बच्चो! यह सब किसने कहा है ? जो तीनों लोकों में ज्येष्ठ ऐसे उनके भगवान महावीर ने कहा है। और ऐसा कैसे है? सो देखो, बहुत प्रकार के नयों की विवक्षा का उल्लंघन कर देने से....।"

मध्य में ही गुरूजी अर्थ करने में रूक जाते हैं और कुछ सोचने लगते हैं पुनः सोचते-सोचते ही बाहर चले जाते हैं। इधर सभी खेलकूद में लग जाते हैं और सबकी नजरें बचाकर अकलंक श्लोक के पाठ को अशुद्ध देखकर उसे सुधार देते हैं। अर्थात् वे अन्तिम चरण के अंतिम वाक्य 'विवक्षालंघनात्' के स्थान पर 'विवक्षेतरवशात्' कर देते हैं और चुपचाप अपने स्थान पर आ जाते हैं।

गुरूजी बाहर से अंदर आते हैं और फलक पर दृष्टि डालते हैं तो एकदम घबरा उठते हैं और मन ही मन सोचने लगते हैं–

'ऐं!! यह क्या?....जिस उलझन में मैं इतनी देर से बाहर

उलझ रहा था वह तो यहाँ सुलझा हुआ है। क्या बात है ?... अच्छा, ऐसा लगता है कि शायद पहले पाठ अशुद्ध था अतः अर्थ संगत नहीं बैठ रहा था किन्तु अब पाठ किसी के द्वारा शुद्ध किया गया है।"

पुनः श्लोक की तरफ देखते हुए पूछते हैं–

"क्यों बच्चों! यहाँ कोई साधु महात्मा या विद्वान् लोग आये थे।"

एक स्वर में सभी बच्चे बोल उठते हैं–

"नहीं गुरूजी! यहाँ आज सुबह से कोई भी नहीं आये हैं।"

"पुनः बताओ, तुम बालकों में से इस फलक के श्लोक में किसने परिवर्तन किया है ?"

सभी बालक एक साथ बोल उठते हैं–

"गुरूजी, हम लोगों में से तो कोई भी इस फलक के पास नहीं गया है।"

"सच-सच बोलो अन्यथा तुम सभी को बहुत बड़ा दण्ड भुगतना पड़ेगा।.... क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि झूठ बोलने वालों की जिह्वा छेद दी जाती है।"

"गुरूजी, आप चाहे जो कुछ करें किन्तु हम सभी छात्रगण झूठ नहीं बोल रहे हैं।"

कुछ गुनगुनाते हुए क्रोध में झल्ला उठते हैं और कहते हैं–

"अच्छा बच्चों! क्या तुम सभी बुद्ध भगवान् की शपथ खाकर कह सकते हो, कि तुमने इसमें परिवर्तन नहीं किया है।"

"हाँ गुरूजी! हमें बुद्ध भगवान की शपथ है, हम लोगों ने

कुछ भी परिवर्तन नहीं किया है।''

''अरे मूर्खों! एक-एक करके इधर आते जाओ और विधिवत् हाथ जोड़कर बुद्ध भगवान की शपथ खाकर अपनी सत्यता प्रगट करते जावो, ऐसे कोलाहल करने से कुछ नहीं होगा।''

एक बालक आगे आकर हाथ जोड़कर कहता है–

''मैं बुद्ध भगवान की कसम खाता हूँ कि मैंने इस श्लोक में कुछ भी परिवर्तन नहीं किया है।''

इसी तरह एक-एक करके सभी बालक शपथ खाकर बैठ जाते हैं। तब गुरूजी और अधिक उद्विग्न हो उठते हैं। आगे कुछ न पढ़ाकर कक्षा की छुट्टी करके आप अपने विश्राम भवन में चले जाते हैं और किसी विशेष व्यक्ति को भेज कर गुरु धर्मकीर्ति को बुला लेते हैं। धर्मकीर्ति आते हैं उनके सामने जाकर उनका अभिवादन करते हुए उन्हें नमस्कार करते हैं, पुनः उन्हें उच्च आसन पर बिठाकर आप नीचे आसन पर बैठ जाते हैं और चिंतित मुद्रा में मस्तक पर हाथ रख लेते हैं। धर्मकीर्तिजी गुरूजी के मस्तक पर हाथ रखकर बड़े प्रेम से पूछते हैं–

''कहिये, प्राचार्य जी, क्या बात है ? आज आप इतने चिंतित क्यों हो रहे हैं ?''

''महात्माजी! मैं क्या बताऊँ बड़ा अनर्थ हो रहा है।''

आश्चर्यचकित होकर–

''कहो-कहो, क्या घटना हो गई है ?''

''महाराज जी! हमारे महाविद्यालय में कोई धूर्त जैन बौद्धवेष में पढ़ रहा है।''

''यह कैसे जाना ?''

मैं आज मध्याह्न में एक सप्तभंगी का श्लोक लिखकर उसका अर्थ समझाने चला किन्तु श्लोक कुछ गलत होने से मेरा मस्तिष्क चकरा गया तब मैं विषय छोड़कर बाहर चला गया और कुछ क्षण बाद जब वापस आता हूँ तो देखता हूँ कि श्लोक को किसी ने सुधारा है। गुरुदेव! मैं सच कहता हूँ कि बिना जैन के यह कार्य किसी के वश में नहीं है।''

महात्मा धर्मकीर्ति खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं और कहते हैं–

''वाह प्राचार्य जी वाह, खूब रही, तुम उस जैन बालक से इतना डर गये ?....बड़े आश्चर्य की बात है, अरे!.... होगा कोई जैन बालक, जो छद्म वेष में पढ़ रहा होगा तो तुम्हें उससे इतनी बड़ी आपत्ति की आशंका क्यों हो गई ?''

''अरे महाराज! आपने कुछ नहीं समझा। अरे वह धूर्त यहाँ से सूक्ष्म अध्ययन करके जायेगा और फिर हमारे ही शास्त्रों को शस्त्र बनाकर हमारी ही वंशलता को काट डालेगा।''

धर्मकीर्ति जी कुछ सोचकर गंभीर मुद्रा में बोलते हैं–

''हाँ, प्राचार्य जी, बात तो सही है, यह विषय थोड़ा गंभीर है, विचारणीय हैं।''

''तो अब क्या करना ? मैंने तो सभी बच्चों से बुद्धदेव की शपथ करा ली, कुछ भेद नहीं खुल पाया है सो अब क्या करना चाहिये ?''

धर्मकीर्ति जी किसी विश्वस्त व्यक्ति को भेजकर प्रभाकर जी, दिग्नाग जी आदि को बुला लेते हैं और स्थिति का दिग्दर्शन

करा देते हैं। पुनः सभी मिलकर परामर्श करते हैं। कुछ देर बाद एक युक्ति सूझ आती है और सब खुशी से नाच उठते हैं–

"हाँ, यह युक्ति बहुत ही सुंदर है, प्राचार्य जी! आप जल्दी करें, किसी कुशल व्यक्ति से दिगम्बर जैनमंदिर से एक बड़ी प्रतिमा जी मंगवा लेवें और सभी बच्चों से उलांघने को कहें। अपने आप वह धूर्त जैन पकड़ लिया जायेगा। लेकिन हाँ, देखना बहुत ही सावधानी रखना और अभी रात्रि में चारों तरफ कड़ा पहरा लगा देना कि जिससे रात्रि में कोई बालक भाग न जाय।"

विचार विमर्श के समाप्त होते ही सब अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं। इधर गुरूजी भी किसी विश्वस्त से जैनप्रतिमा लाने का आदेश देकर अपने शयनकक्ष में चले जाते हैं। दूसरे दिन अध्ययन प्रारंभ होने से पहले ही परीक्षा चालू हो जाती है। प्राचार्य जी बच्चों को बुलाकर कड़े शब्दों में धमकाते हुए कहते हैं–

"अरे बालकों! तुममें से कौन जैन है ? आज भी बता दो अन्यथा परीक्षा के बाद पकड़े जाने पर उसे मृत्युदंड दिया जायेगा।"

सभी बालक स्तब्ध हैं, कोई भी कुछ नहीं बोलता है। तब गुरूजी प्रतिमाजी को मँगवाकर वहाँ सामने रखवाते हैं और आप स्वयं आसन पर आरूढ़ हो जाते हैं। कड़कते हुए आदेश देते हैं–

"हाँ, यह भगवान महावीर की प्रतिमा है। तुम सब बुद्ध भगवान के भक्त हो अतः क्रम-क्रम से उलांघते चलो।"

एक-एक बालक उलांघ रहे हैं। इधर मौका पाकर निकलंक-अकलंक से चिंता व्यक्त करते हैं–

"भइया! अब क्या होगा ?"

तब अकलंक भी बोलते हैं–

"ओह! यह बहुत बड़ा धर्म संकट आ पहुँचा है अब क्या किया जाए ? इधर-उधर भागने से या छिपने से भी काम नहीं चलेगा।"

निकलंक की आँखों से अश्रु आ जाते हैं–

"भइया, भइया!!.....अब इस समय अपन दोनों बेमौत यहाँ मृत्यु के मुख में आ पड़े हैं। हाय! अब हम और आप अपने संकल्प को कैसे पूरा करेंगे ?"

अकलंक उसी क्षण निकलंक को छाती से चिपका लेते हैं और अपने हाथ के रुमाल से अश्रु पोंछ देते हैं तथा कहते हैं–

"भाई! सावधान रहो।"

किंचित् क्षण सोचकर मुस्करा उठते हैं और बोलते हैं–

"भाई निकलंक! हमें एक उपाय सूझ आया। हम लोग दिगम्बर प्रतिमा के उपासक हैं अतः इस प्रतिमा पर चतुराई से एक सूत का धागा डाल देवें, बस यह सरागी बन जायेगी फिर अपन इसे उलांघ जायेंगे। न अपने को जिनेन्द्रदेव के अपमान का दोष लगेगा और न ही भेद खुल सकेगा।"

इतने में ही इनका भी नंबर आ जाता है और ये दोनों सच्चे जिनशासन के भक्त अपनी युक्ति से प्रतिमा को उलांघ जाते हैं। जब सभी बच्चे उलांघ लेते हैं तब प्राचार्य जी बहुत ही उद्विग्न हो जाते हैं और पुनः रात्रि में धर्मकीर्ति आदि को बुला भेजते हैं। घंटे, दो घंटे विचार-विमर्श चलता रहता है पुनः दिग्नाग जी बोलते हैं–

"मेरी समझ में ऐसा आता है कि जहाँ सब बच्चे सोते हैं वहाँ पर किंचित् दूर से कुछ ऊँचाई पर एक काँसे के बर्तन की बोरी रख देना चाहिये और आधी रात में जब बच्चे गाढ़ निद्रा में सो रहे हों तब वह बोरी खोलकर बर्तन गिरा देने चाहिये कि जिससे सभी बच्चे एकदम डर जायेंगे और अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण करने लगेंगे। हाँ, सावधान रहना होगा, देखो, प्राचार्य जी! ध्यान रहे दो-दो, तीन-तीन बच्चों के पास एक-एक गुप्तचर नियुक्त रहे, जो कि महावीर या अरहंत की आवाज निकलते ही उस बच्चे को पकड़ लें।"

सभी एक स्वर में बोल उठते हैं–

"बहुत ठीक, बहुत ठीक!!"

परामर्श समाप्त होते ही सब यथास्थान चले जाते हैं और अर्धरात्रि में अकस्मात् बहुत जोर से धमाका होता है। सभी बच्चों की नींद खुल जाती है सभी के हृदय में धड़कन शुरू हो जाती है। सबके मुख से एक ही ध्वनि निकलती है–

"बुद्धं शरणं,....बुद्धं शरणं,....बुद्धं शरणं!!"

इधर अकलंक और निकलंक के मुख से शब्द निकलते हैं–

"अरहंत शरणं...अरहंत शरणं.....अरहंत शरणं पव्वज्जामि।"

बस उसी क्षण एक व्यक्ति इन दोनों को धर दबोचता है और बोलता है–

"अच्छा!! तुम जैन हो ? बौद्धों का माल खाकर अरहंत की शरण लेते हो ? ओहो...बहुत मुश्किल से तुम पकड़ में आये हो।"

ऐसा कहते हुए वे कर्मचारी इन दोनों को पकड़ कर ले

जाते हैं और गुरूजी जहाँ पर प्रतीक्षा करते हुए बैठे हैं, वहाँ उनके समक्ष दोनों को उपस्थित कर देते हैं और कहते हैं–

"लीजिये गुरूजी, इन धूर्तों को...।"

गुरूजी आश्चर्यचकित होकर आँख फाड़ते हुए इन दोनों को ऊपर से नीचे तक देखते हैं और बोलते हैं–

"अच्छा!! तुम दोनों तो निरे मूर्ख थे, बड़े धूर्त निकले।"

वह कर्मचारी बोलता है–

"अब कहिये गुरूजी, इन दुष्टों का क्या किया जाय ?"

गुरूजी दाँत पीसते हुए बोलते हैं–

"कहो धूर्तों, तुम्हीं कहो, अब तुम्हारी कैसी गति की जाय ?"

दोनों बालक निर्भय वाणी में उत्तर देते हैं–

"जो आपको जँचे।"

आश्चर्य से गुरू जी बोलते हैं–

"अच्छा!! तो क्या तुम दोनों मरने को तैयार हो ?"

"क्यों नहीं, यदि हम मरने से डरते तो वेष बदलकर यहाँ पढ़ने को आते ही क्यों ?"

"अच्छा!! बड़े निडर हो ?"

पुनः गुरूजी के हृदय में कुछ करुणा का संचार हो आता है और वे दया से आर्द्र होकर स्नेहपूर्ण वाणी में कहते हैं–

"बच्चों! तुम अभी बहुत ही सुकुमार हो, मेरा कहना मानों और बुद्ध भगवान के भक्त बन जावो। क्यों व्यर्थ में प्राण गँवाते हो ?"

दोनों ही चुपचाप खड़े रहते हैं। तब पुनः गुरूजी कहते हैं–

"क्या बात है बोलो, डरो मत, मैं तुम्हें बड़े प्रेम से रखूँगा। तर्कशून्य इस जैनधर्म के आश्रय से तुम्हें क्या सुख मिलेगा।"

अकलंक उत्तर देते हैं–

"गुरूजी! यह जैनधर्म आत्मा के अनंत अस्तित्व को स्वीकार करता है, यह प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बना देता है। इसलिये हम स्वयं तो इसके आश्रय में हैं ही, अन्य अनंत प्राणियों को इसके आश्रय में रहने की कामना करते हैं किन्तु आत्मा के अस्तित्व से शून्य केवल नैरात्म्यरूप यह बौद्ध धर्म किसी को शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं करा सकता है।"

गुरूजी आश्चर्य से कहते हैं–

"अरे तुम तो जैनधर्म के विषय में बड़े ही मूर्ख थे।"

"गुरूजी! हम मूर्ख नहीं थे, बन गये थे, हम दोनों को जैनधर्म का इतना ज्ञान है कि मैं आज ही आपको शास्त्रार्थ के लिये चुनौती देता हूँ। कहिये स्वीकार है ?"

"अच्छा!! तुम्हारे में इतना साहस है....क्या जैनधर्म ऐसे ही छल करना, झूठ बोलना सिखाता है ?"

"नहीं, किन्तु हमें स्वार्थवश ऐसा छल करना पड़ा है। चूँकि आप लोग खुले आम जैनों को प्रवेश नहीं देते हैं इसलिये।"

कुछ क्षण ठहर कर गुरूजी पुनः बोलते हैं–

"बच्चों! तुम्हें मालूम है कि हमारा बौद्ध धर्म भारत, चीन, तिब्बत, शिलांग आदि देशों में व्याप्त हो चुका है पुनः अंगुली पर गिने जाने वाले ऐसे जैनों की भला क्या हस्ती है जो आज वे हमारा बाल भी बांका कर सकें।"

अकलंक कहते हैं–

"हूँ!! मैं अकेला ही काफी हूँ। शेर के एक बच्चे के आगे कितने सियार टिक सकेंगे, देखता हूँ।"

जब आपका धर्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है और उसमें कुछ उदारता है तो आप लोग जैनों के प्रति आज ऐसा घृणित व्यवहार क्यों करते हो ? उनके लिए प्रवेश का द्वार क्यों बंद किया है ?"

कुछ क्षण तक गुरूजी मौन रहते हैं पुनः कड़क कर कहते हैं–

"दिखता है तुम्हारे सिर पर मृत्यु सवार हो चुकी है ?"

तब अकलंक शांतपूर्ण शब्दों में उत्तर देते हैं–

"गुरूजी! हम दोनों जिनेन्द्रदेव के परम भक्त हैं और यदि कदाचित् जीवित बचे तो बौद्धों का नामोनिशान मिटा देंगे।"

गुरूजी गुर्रा कर बोलते हैं–

"हूँ! देखता हूँ तुम दोनों कैसे जीवित बचोगे ?"

गुप्तचर की ओर देखकर–

"अच्छा! तुम इन दोनों को ले जावो और अभी कैदखाने में डाल दो। अभी अर्धरात्रि का समय है जब कुछ रात्रि शेष रह जावे तब इन्हें चुपके से श्मशान में ले जाना और इन दोनों को तलवार के घाट उतार देना। समझ गये....हाँ, बहुत ही सावधानी से कार्य करना कि जिससे बाहर में किसी को किंचित् भी आभास तक न मिल सके।"

"जो आज्ञा गुरूजी!"

इतना कहकर वो गुप्तचर इन दोनों के हाथों में हथकड़ी डालकर ले जाकर कारावास में बंद कर देता है और कहता है–

"दुष्टों! अब तुम्हारी खैर नहीं है अब तो तुम्हें मरना ही होगा।"

दोनों साहस के साथ बोल उठते हैं–

"हमें मरने से कोई डर नहीं है।"

जेल में बंद हुए दोनों भाई कुछ क्षण तक तो महामंत्र का स्मरण करते रहते हैं पुनः आपस में वार्तालाप शुरु हो जाता है। निकलंक कहते हैं–

"भइया! यह कैसी विपत्ति आ खड़ी हुई है, अब क्या होगा ?"

अकलंक ने कहा–

"भाई! तुम किंचित् भी अधीर मत होवो, देखो, जब तक विपत्ति नहीं आती है तभी तक उससे डरना होता है किन्तु जब विपत्ति मस्तक के ऊपर आ जाती है तब निर्भय हो उसका सामना करना चाहिये।"

"भइया!! मरने से डरने की बात नहीं है किन्तु हम लोगों ने यहाँ आकर बौद्ध के विद्यालय में इनके ग्रंथों का अध्ययन इसलिये किया था कि इनके बढ़ते हुए आतंक को समाप्त करके जैनधर्म का प्रचार प्रसार करेंगे सो अब....।"

....इतना कहते-कहते निकलंक की आँखों से अश्रु की धारा बह चलती है, अब अकलंक के नेत्र सजल हो जाते हैं और वे बोलते हैं–

"भाई! अधीर मत होवो और अभी हिम्मत मत हारो, आवो, अपन जिनेन्द्रदेव की स्तुति करें, अर्हंतदेव के प्रसाद से अपने को इस कारावास से छुटकारा मिल सकता है और मेरे पास यह छतरी भी है इससे अपने को छिपाकर अपन दोनों भाग

सकते हैं।"

निकलंक को धैर्य आ जाता है और दोनों भाई हाथ जोड़कर जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना करते हैं–

नाथ! तेरे सिवा कौन मेरा।
आके विपदा ने हमको है घेरा।।
आके भगवन् हमें अब बचाओ।
जेल बंधन से हमको छुड़ावो।।1।।

धर्म की आन रख लो प्रभूजी।
हमको अपना समझ लो प्रभूजी।।
मेरी रक्षा करो नाथ! मेरे।
वेग संकट हरो नाथ मेरे।।2।।

बच गये प्राण यदि मेरे भगवन।
मेरा जीवन तुम्हें ही समर्पण।।
इस क्षणिक मत का करके समापन।
सर्व व्यापी करूँ जैनशासन।।3।।

जैन शासक के रक्षक कहाँ हो।
आओ हे देव अब तुम जहाँ हो।।
मुझ को बस आपकी ही शरण है
आप ही एक तारणतरण हैं।।4।।

आके भगवन हमें अब बचाओ।
जेल बंधन से हमको छुड़ावो।।

प्रार्थना पूर्ण होते ही दोनों के हाथों की बेड़ियां टूटकर गिर पड़ती हैं और सामने दृष्टि डालते हैं तो ताला भी खुला हुआ मिलता है। प्रसन्न होकर किवाड़ खोलते हैं, देखते हैं कि सिपाही नींद में खुर्राटे भर रहे हैं। बस दोनों ही चुपके से छाता लगाकर जेल से भाग निकलते हैं और जी-जान से बहुत ही जोर से दौड़ते हुए जंगल की तरफ निकल जाते हैं। ये बे भान दौड़ते चले जा रहे हैं। मध्य में निकलंक थक जाते हैं और कहते हैं–

"भाई! अब मैं बिल्कुल थक चुका हूँ। अब मेरे से एक कदम भी आगे नहीं चला जायेगा।"

"भाई! आवो बैठ जांय और किंचित् विश्राम कर लें।" दोनों बैठ जाते हैं। अकलंक निकलंक को अपनी गोद में सुला लेते हैं और बोलते हैं–

"भइया! महामंत्र का स्मरण अपने सभी संकटों को दूर करने वाला है। देखो न, क्षण भर में चमत्कार हो गया। अहो!!...धर्म से बढ़कर और कुछ भी नहीं है।"

एक क्षण बाद ही निकलंक बोलते हैं–

"भइया! हो सकता है कि दुष्ट लोग हम लोगों को ढूँढते हुए आ रहे हों...."

"हाँ निकलंक! यह बात संभव है अतः आवो उठो, चलें जितनी भी दूरी तय कर लें उतना ही अच्छा है।"

दोनों उठकर वेग से दौड़ने लगते हैं।

पिछली रात्रि का समय है। प्राचार्य विजयश्री जी अपनी शय्या पर ही लेटे हुए हैं। अकस्मात् सिपाही लोग आकर बाहर

में कोलाहल शुरू कर देते हैं। द्वारपाल से कहते हैं–

"अरे! द्वारपाल! प्राचार्य जी अभी जागे कि नहीं देख।"

"क्या हो गया? दिन तो निकलने देवो भाई!! प्राचार्य जी आज बहुत देर से सोये हैं।"

सिपाही लोग जोर-जोर से हल्ला मचाने लगते हैं उधर विजयश्री उठ बैठते हैं। शयनागार से बाहर निकल कर आ जाते हैं और पूछते हैं–

"क्या हुआ ? क्यों हो हल्ला मचा रखा है ?"

"गुरूजी! बहुत बड़ा अनर्थ हो गया।"

"अरे! बोल तो सही क्या अनर्थ हो गया ?"

"गुरूजी! वे दोनों कैदी कैदखाने से भाग गये।"

गुरूजी माथा ठोक लेते हैं पुनः कड़ककर बोलते हैं–

"अरे मूखों! तुमने यह क्या कर डाला ? वे धूर्त कैसे भाग गये ? जेलखाने के फाटक किसने खोले ?....अरे कम्बख्तों! तुम लोगों ने गजब कर दिया तुम लोग कैसे सो गये ?..."

इसी बीच में सिपाही बोलता है–

"गुरूजी! हम लोगों को पता नहीं क्या हो गया, जैसे किसी ने जादू ही कर दिया हो ?...कैसे नींद आई हमें तो पता ही नहीं चल पाया ?...और सोते के सोते ही रह गये। वे दोनों कब निकल भागे कुछ पता ही नहीं चल पाया।"

गुरूजी क्रोध में तमतमाकर बोलते हैं–

"अरे दुष्टों! सबसे पहले तुम्हें ही दण्ड भुगतना पड़ेगा। ऐसा लगता है कि तुम दुष्टों ने उन धूर्तों से सांठ-गांठ कर ली होगी

और फाटक का ताला खुलवा दिया होगा।''

सिपाही लोग घबड़ाने लगते हैं और कांपते हुए बोलते हैं–

''अन्नदाता! ताले की चाबी तो मालिक जेलर के पास है।....हम लोग तो उन धूर्तों को जी-जान से मार देने को तैयार थे, हम उन पर रहम क्यों करते ?''

''अच्छा, अच्छा, जावो तुम जल्दी से धर्मकीर्ति आचार्य जी को और सेनापति तथा सैनिकों को सूचना करो।''

कुछ ही क्षणों में सब लोग आ जाते हैं और वार्तालाप शुरू हो जाता है–

''अच्छा तो सेनापति! तुम बहुत ही शीघ्रता करो। वे धूर्त आखिर पैदल दौड़ते हुए कितनी दूर जा सकते हैं ?'' तुम दशों दिशाओं में घुड़सवारों को दौड़ा दो। चारों तरफ उन दुष्टों की छान-बीन शुरू कर दो और उनकी सूरत दिखते ही उन्हें खत्म कर दो। हाँ, देखों घुड़सवारों के हाथ में नंगी तलवार रहनी चाहिये।''

चारों तरफ घुड़सवार दौड़ पड़ते हैं उनके हाथों में लपलपाती हुई नंगी तलवारें दिख रही हैं।

इधर दौड़ते-दौड़ते अकलंक-निकलंक के पैरों से खून की धार बहने लगी है। निकलंक कहते हैं–

''भइया! वो देखो प्रभात की किरणों के साथ-साथ पीछे से बहुत ही ऊपर धूलि उठती हुई दिखाई दे रही है!''

''हाँ,हाँ, वो हत्यारे घुड़सवार हमारा पीछा करते हुए आ रहे हैं। अब...अब तो प्राण बचाना कठिन है। भइया निकलंक अब तो मरना ही है। णमोकार मंत्र का स्मरण करो।''

''भइया! बड़े खेद की बात है कि हम लोग जैनधर्म की कुछ सेवा नहीं कर सके।....ओह!! पवित्र जैनशासन की रक्षा करने का जो संकल्प किया था वह मन-ही-मन में रह गया...।''

कुछ आगे बढ़कर निकलंक बोलते हैं–

''मेरे अग्रज! मेरी प्रार्थना स्वीकार करो, आप जल्दी से इस सरोवर में उतर जावो, इसमें बहुत सारे कमल खिल रहे हैं उनमें छिपकर तुम अपने प्राण बचाओ....जाओ जल्दी जाओ।''

''अरे भाई! मैं तुम्हें छोड़कर क्या जीवित रह सकता हूँ ? ओह!! तुम यह क्या सोच रहे हो ? यदि बचेंगे तो दोनों ही बचेंगे और मरेंगे तो दोनों एक साथ ही मरेंगे।....''

''भाई! आप इतने समझदार हो, यह समय मोह करने का नहीं है आप तो जैसे बने वैसे अपने प्राणों की रक्षा करो।.. देखो देखो, वह उड़ती हुई धूल बिल्कुल नजदीक में ही दिख रही है। भइया!! तुम एक पाठी हो तुम्हारे द्वारा जितनी जैनशासन की सेवा हो सकती है मेरे द्वारा उतनी नहीं। चूँकि मैं दो पाठी हूँ। आप जितना अभ्यास छह महीने में करेंगे उसके लिए हमें एक वर्ष चाहिए। भइया! हम दोनों में से यदि एक भी बचेगा तो इस बढ़ते हुए एकान्त क्षणिक मत को परास्त करके अनेकांतमयी सार्वधर्म का झंडा फहरायेगा ही। और हम दोनों में से आपका जीवित रहना मेरी अपेक्षा अधिक उपयोगी है। देखो-देखो, वह सामने धोबी कपड़े धो रहा है मुझे उधर ही भागने दो। जाओ-जाओ मेरे प्यारे भाई जाओ, आप अपने प्यारे जैनधर्म की रक्षा करो और हमें धर्म के लिए प्राणों का समर्पण करने दो।''

इतना कहते-कहते निकलंक दम तोड़कर तेजी से भागते हैं और अकलंक भइया-भइया कहते हुए किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं, पुनः अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखते हैं, भाई के आँखों से ओझल हो जाने पर उसी के कहे अनुसार अतीव चतुराई से सरोवर में घुसकर एक कमल का आश्रय लेकर छिप जाते हैं। वास्तव में उन्होंने उस समय कमल का आश्रय क्या लिया था, सर्वजन-हितैषी सच्चे जैनशासन का ही आश्रय लिया था और मन ही मन महामंत्र का स्मरण कर रहे थे।

उधर निकलंक को इस तरह से दौड़ते देखकर वह धोबी घबराया सा पूछने लगता है–

"भइया! तुम कहाँ जात हौ, ऐसी दौड़ काहे लगाय रहे हौ, का बात है, हमहूँ का बताय देव ?"

निकलंक कहते हैं–

"अरे भाई! वह देखो पीछे से घुड़सवार आ रहे हैं उन्हें जो मिलता है उसे ही मार डालते हैं।

"तो भइया! हमहूँ का साथ लै लेव, हमका बचाय लेव।"

"आ जा, आ जा, मेरे साथ आ जा, दौड़ चल, अपन कहीं झाड़ी में छिप जायेंगे तो शायद बच भी जायेंगे....अन्यथा तो मरेंगे ही।"

दोनों जोर से दौड़ते हुए चले जा रहे हैं। जब निकलंक ने देखा कि अब बिल्कुल ही नजदीक घुड़सवार आ चुके हैं, इनके हाथों में नंगी तलवार लपलपा रही है तब वे वेग को छोड़कर अपना मरना निश्चित समझकर शांतचित हो जाते हैं और 'धर्म

के लिए हँसते-हँसते मरना है' ऐसा सोचकर णमोकार मंत्र को उच्च स्वर से बोलने लगते हैं। इसी बीच वो हत्यारे उनके निकट आकर पहले निकलंक के गले पर वार करके उनके सिर को धड़ से अलग कर देते हैं पुनः उस धोबी के गर्दन पर वार करके उसके सिर को धरती पर गिरा देते हैं।

निकलंक का सिर धरती पर गिरता हुआ ऐसा प्रतीत होता है कि मानों जैनधर्म का सूर्य ही धरती माता को प्रसन्न करने के लिए उसकी गोद में पहुँचा है। ये हत्यारे उन दोनों सिरों को लेकर कपड़े में लपेट कर घोड़े पर सवार होकर कृतकृत्य हुए के समान द्रुतगति से अपने महाबोधि विद्यालय के प्राचार्य महोदय के समीप पहुँच जाते हैं।

जब घोड़ों की टाप की आवाज शांत हो जाती है और धूल का उड़ना भी समाप्त हो जाता है, तब अकलंक उस कमल के आश्रय को छोड़कर बाहर आ जाते हैं और निकलंक भाई को ढूँढ़ते हुए इधर-उधर दृष्टिपात करते हैं। अकस्मात् उनकी दृष्टि वहाँ पड़ती है कि जहाँ से खून की धार बह रही है। धीरे-धीरे पास पहुँचते हैं और प्यारे भाई के धड़ को एक तरफ पड़ा हुआ देखते हैं। इधर-उधर दृष्टि डालते हैं किन्तु सिर को नहीं देख पाते हैं। एकदम चीख उठते हैं–

"हाय भाई!...तुम कहाँ गये ? क्या सचमुच में उन हत्यारों ने तुम्हारी हत्या कर दी...." इतना कहते ही वे मूर्च्छित हो गिर पड़ते हैं। कुछ देर बाद जब उन्हें होश आता है तब वे भाई के धड़ के पास बैठकर विलाप करना शुरू कर देते हैं–

क्यों छोड़ चला भाई, निकलंक मेरा प्यारा।
तू कहाँ गया भाई, निकलंक मेरा प्यारा।।
शत्रु निर्दयी आ करके, तेरी जान को लेकर भागे।
धोबी ने भी प्राण गंवाए, मेरे बदले में आके।।
मैं देख रहा भाई, निकलंक मेरा प्यारा।
जिनधर्म की रक्षा खातिर, तू बलिवेदी पर आया।।
यह अमर त्याग तुझको, जिनधर्म ने ही सिखलाया।
मुझे छोड़ गया भाई, निकलंक मेरा प्यारा।।

"निकलंक! तुमने यह क्या कर डाला ? मेरे प्यारे भाई! मैं तुम्हारे बगैर अब क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? और किससे अपने मन की व्यथा सुनाऊँ ?.....हाय, हाय!! भइया बचपन से लेकर आज तक तूने मेरा साथ निभाया था-मेरे साथ ही सोता था, मेरे साथ ही खाता था, मेरे साथ ही हँसता था और मेरे साथ ही रोता था, अब तू मुझे अकेले छोड़कर कहाँ चला गया ? ओह!!...अब मैं कैसे जीवित रहूँगा ? तेरे बिना मैं कैसे अपने संकल्प को पूरा करूँगा ?....हाय दुर्दैव ! तूने यह क्या किया ? तूने मेरे प्राणों से अधिक प्यारे भाई को मेरे से जुदा कैसे कर दिया ? हाय विधाता! तुझे हम दोनों का निश्छद्म प्रेम क्यों नहीं सहन हुआ ? हे भगवन्! मैंने पूर्वजन्म में कौन सा घोर पाप किया था ? किसका आपस में वियोग कराया था ? जो कि आज मुझे यह वियोग सहना पड़ा है।....

.....कुछ देर तक रोते रहते हैं पुनः स्वयं किंचित् धैर्य धारण करते हैं। और फिर रो पड़ते हैं–

"हे भगवन्! यह महान् विपत्ति मेरे मस्तक पर कैसे आ पड़ी है? अब मैं दुनियाँ में कैसे अपना मुँह दिखाऊँगा ? घर जाकर माता-पिता को क्या जवाब दूँगा ? उन्हें अपना मुँह कैसे दिखाऊँगा ? अकेला उनके सामने कैसे जाऊँगा ? हाय दुर्दैव! तू कितना निष्ठुर है ?.....ओह!! गुरूजी! तुमने तो हम दोनों पर सदैव असीम वात्सल्य बरसाया था। किंचित् भी हमें दुःख का अहसास नहीं होने दिया था। माता-पिता के समान प्यार दिया था और आज....तुम इतने निर्दयी कैसे हो गये? अहो! क्या धर्मद्वेष ऐसी नृशंस हत्या भी करा सकता है ? तुम्हें जैनधर्मी से इतना द्वेष क्यों ? इतने कोमल किशोर बालकों का वध कराकर तुम्हारे हृदय को शांति कैसे मिली होगी ?"

पुनः जोर-जोर से रोन लगते हैं। कुछ क्षण बाद स्वयं ही शांत होकर बैठ जाते हैं। कुछ सोचते-सोचते बोल उठते हैं–

"भइया निकलंक! क्या तुम अब मेरे से नहीं बोलोगे ? क्या तुम अब सदा-सदा के लिए मुझे छोड़कर चले गये ?...बताओ तो सही मैं तुम्हारे बगैर किससे कुछ परामर्श करूँगा ? क्या मैं अकेला जिनशासन की रक्षा करने में समर्थ होऊँगा ?....

अनंतर संसार की स्थिति का विचार करने लगते हैं। ओह! सच है, जब यह अपना शरीर भी चिरकाल तक टिकने वाला नहीं है तो फिर भाई-भाई का संबंध क्या है ? वास्तव में संसार में सब नाते-रिश्ते क्षणिक हैं मात्र एक आत्मा ही अविनाशी अजर-अमर है। पवित्र जैनशासन यही तो सिखाता है।....सच में यह समय मोह से विलाप करने का नहीं है। अब हमें अपने

कर्तव्य को पूरा करने के लिए आगे बढ़ना है। यत्र-तत्र भ्रमण कर इस एकांत मत को पराजित करना है और अनेकांत की विजयपताका फहरानी है।

इत्यादि प्रकार से सोचते हुए कुछ देर बाद में उठ खड़े होते हैं और भाई के धड़ का विधिवत् दाह संस्कार करके उसी सरोवर में स्नान करके आप स्वयं अन्यत्र चले जाते हैं।

(9)

एक सेठजी अपनी गद्दी पर बैठे हुए हैं। मकान में बच्चों की चहल-पहल हो रही है। सेठानी जी अपने काम में लगी हुईं हैं। सेठजी नौकर को आवाज देते हैं–

"अरे सामू! कहाँ है ?....इधर आ।"

"आया सरकार!"

नौकर आकर सामने खड़ा हो जाता है–

"कहिये मालिक! क्या चाहिये ?"

"अरे सामू, तूने आज सुबह से मुझे दूध नहीं दिया। भूख लग रही है और बड़ी बेचैनी हो रही है। भला तुझे समय का ध्यान क्यों नहीं रहता है ?..."

"मालिक! आज ग्वाले ने दूध निकाला ही नहीं तो भला मैं कहाँ से ले आता ? देखो! आप तो क्या, आज बच्चे भी तो भूख से रो रहे हैं। अभी अम्माजी जल्दी-जल्दी रसोई बना रही हैं।"

"तो क्या खाली पेट रोटी खा लूँगा ? अरे बुद्धू, तू भी समझता नहीं है। जा जल्दी से जा और ग्वाले को बुला ला, वह

जल्दी से दूध दुह दे।"

"मालिक! आज गौशाला में गाय भैंसें तो हैं ही नहीं, भला ग्वाला दूध क्या मेरा दुहेगा ?"

सेठ जी आश्चर्यचकित हो जाते हैं और पूछते हैं–

"ऐं! क्या कहा ? क्या गाय-भैंसें ग्वाले ने रख लीं ? क्या कल चरकर नहीं आईं थीं ?"

"हाँ सरकार!"

अरे बुद्धू! तो तूने कल क्यों नहीं बताया था ? अरे जा, जल्दी जा और गाय, भैंसों को तो उसके यहाँ से लेकर आ।"

सामू चला जाता है और कुछ देर बाद आकर बोलता है–

"सरकार! वह तो गाय, भैंसों को देने को तैयार नहीं है।"

"क्यों ? वह क्या कहता है ?"

"वह कहता है कि मेरी आत्मा तो अभी आई है। मुझे पता ही नहीं कि ये गाय-भैंसें किसकी हैं ? ये तो मेरी हैं अतः मैं उन्हें वापस कैसे कर दूँ ?"

"अरे, गजब कर दिया, बुलाओ उस धूर्त को यहाँ ?"

"हाँ, मैं अभी बुलाये लाता हूँ।'

कुछ देर बाद सामू नौकर ग्वाले को साथ लेकर प्रवेश करता है। सेठ जी उसे देखते ही कड़क कर बोलते हैं–

"अरे रामू! तूने मेरी गाय-भैंसें कैसे हड़प लीं ?"

"मलिक! मैंने तो बिल्कुल ऐसा अनर्थ नहीं किया है।"

"तो कल तू मेरे गौशाले से गाय भैंसें खोलकर ले गया था अब आज उन्हें वापस क्यों नहीं देता है ?"

"मालिक! कल आपके गौशाले से ले जाने वाला कोई और था और मैं आज कोई और हूँ अतः आप व्यर्थ ही मुझे चोर बताते हो।"

"अरे मूरख! वह कौन था ? और अब तू उससे अन्य और कौन है ?"

"सरकार! अपराध क्षमा हो, मेरी आत्मा क्षण-क्षण में बदल रही है अभी जो आपके यहाँ मैं आया हूँ वह भी मेरी आत्मा इस शरीर से चली गई है और अब दूसरी ही आ गई है।"

गुस्से में आकर सेठ जी फटकारते हैं–

"अच्छा, अब तू धर्म की दूहाई देने चला है ? चुप रह और मेरी गाय भैंसें मेरे गौशाले में बाँधकर जा।"

"सरकार! उस दिन मैं एक महीने का वेतन माँगने आया था, तब आपने भी तो कहा था कि अभी इस शरीर में मेरी आत्मा अन्य ही है और एक महीने पहले अन्य ही थी, अतः मैं क्या जानूँ तेरे वेतन सेतन की ? और जब मेरी आत्मा कल दूसरी थी आज दूसरी आ गई है ऐसा मैंने कह दिया तो आपको बहुत ही गुस्सा आ गया। क्या यही न्याय है बौद्ध धर्म में ? कि नौकर का वेतन हड़पते समय आपकी आत्मा दूसरी आ जाती है और मैं जब गाय-भैंसें हड़प लूँ, तब मेरी आत्मा दूसरी नहीं आती है। वाह रे बौद्ध धर्म! तू भी खूब रहा, तू सेठों का ही धर्म है कि मेरा भी है।"

सेठ जी उसकी तर्कपूर्ण बातों को सुनकर और अपनी गलती को याद कर हक्के-बक्के रह जाते हैं। पुनः बोलते हैं–

"अच्छा! ले यह सवा महीने के वेतन के रुपये ले जा और भई, अब तो जल्दी से मेरी गाय-भैंसें दे जा। हाँ, सुन दूध भी दुह जाना। देख, बच्चे रो रहे हैं और मुझे भी बिना दूध के चैन नहीं पड़ता है।"

ग्वाला हँसता हुआ रुपये संभाल लेता है और चला जाता है।

कुछ देर बाद जंगल में गाय-भैंसें चराता हुआ ग्वाला बाँसुरी बजा रहा है। उधर से एक धोबी और एक नाई भी आ जाता है। तीनों खुलकर वार्तालाप करने लगते हैं। नाई कहता है–

"मैंने भी आज कई एक होशियारों को शियार बना दिया, देख रामू! मैंने जब उनसे पैसे माँगे तब उन्होंने कह दिया कि बाल बनवाते समय मेरी आत्मा अन्य थी और अब अन्य आ गई है अब मैं पैसे क्यों दूँ ? मैंने भी उन्हें खूब छकाया, मैंने कहा– हाँ मैं तुम्हारे बच्चे को मुंडन करने के लिए ले गया था तब ले जाने वाला कोई अन्य ही था और अब अन्य ही आ गया है अतः वह बच्चा तुम्हारा है यह मुझे क्या मालूम ? मेरी औरत तो उसे अपना ही बता रही है। ऐसा कहकर जब मैंने उनका बच्चा नहीं दिया तब वे घबड़ाते हुए आये और मेरे रूपये देकर अपने बच्चे को ले गये।"

"अरे वाह! मैंने भी ऐसे ही छकाया। देख ना कल्लू! उस सेठ ने मेरे रुपये नहीं दिया, बोला कि जब कपड़े धोने दिये थे वह आत्मा अन्य थी और अब मेरे में जो आत्मा आ गई है वह अन्य है, अतः मैं क्या जानूँ तेरे धुलाई के पैसे ? बस, मैंने भी दाँव मार दिया। जब मेरे घर कपड़े माँगने आये मैंने भी कह

दिया, 'सेठजी! जब मैं कपड़े धोने के लिए लाया था तब मेरी आत्मा कोई और थी और अब वह तो चली गई है। मेरी आत्मा अब कोई और ही इस शरीर में आ गई है अतः मुझे क्या पता कि तुम्हारे कपड़े कहाँ हैं ?' तब सेठजी घबड़ाये और दौड़े-दौड़े आये पहले के सभी रुपये चुकाकर अपने कपड़े ले गये।''

ग्वाला बोलता है–''ऐसे ही आज मैंने सेठजी की गाय-भैंसें रोक लीं, जब उनका दिमाग ठिकाने पर आया है।''

''भइया! ऐसे बौद्ध धर्म से पूरी पड़ो। अपने को तो अपना राम नाम ही बढ़िया है जो अपने को इंसान तो बनाता है।''

''हाँ, भई! हम तो जैनों के यहाँ का नमक खाते हैं तो हमें तो वही धर्म अच्छा लगता है। अपने को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापों के छोड़ने का ही वहाँ उपदेश रहता है।''

अकलंक उधर से निकलते हैं और इन लोगों की बातें सुनकर आश्चर्य करते हैं और सोचते हैं–

''अहो! आज सर्वत्र इस बौद्धधर्म का बोलबाला हो रहा है। जगह-जगह लोग इस क्षणिक बौद्धधर्म का आश्रय लेकर दूसरों को ठगने में कुशल बन रहे हैं। ओह!!.....सचमुच में ये बेचारे भोले प्राणी मिथ्यात्व कर्म के उदय से प्रेरित होकर अपनी आत्मा को ही ठग रहे हैं। कैसे इन लोगों को इस क्षणिक एकांत मत से बचाया जाय ? और कैसे इन्हें सही सार्वभौम अनेकांत मत में लगाया जाय ? अरे!! जहाँ इस शरीर में क्षण-क्षण में आत्मा बदल रही है वहाँ पर हिंसा के भाव को करने वाला कोई और होगा, हिंसा करने वाला कोई और होगा, हिंसा के अनन्तर पाप

बंध करने वाला कोई और ही होगा, उसके फलस्वरूप पाप का फल भोगने वाला कोई और ही होगा। पुनः भला लोग हिंसा से डरेंगे कैसे ? और उसे पाप समझकर छोड़ेंगे कैसे ?....ओह! कैसा घोर पाखंड मचा रखा है इन क्षणिकवादियों ने। और देखो ना, उस पर भी जैनधर्म से इनको कितना भयंकर द्वेष है। इनके विद्यालयों में कोई जैन प्रवेश नहीं पा सकते हैं। सर्वत्र जैनधर्म के कार्यों में इनकी तरफ से रुकावटें आती रहती है। ओह, आश्चर्य है!....अधिक क्या ? प्रत्यक्ष में जब मेरे भाई को इन लोगों ने जैन होने के नाते मौत के घाट उतार दिया है। ओह!!....''

अकलंक एक लंबी श्वास लेते हैं और पुनः सोचते हैं–

''हे जिनेन्द्रदेव! अभी जब इस पंचम काल के मात्र डेढ़ हजार वर्ष ही व्यतीत हुए हैं, अभी तो इसके साढ़े उन्नीस हजार वर्ष और बाकी हैं तब आज ही इस आर्यक्षेत्र में ऐसा घोर मिथ्यात्व कैसे फैल रहा है। प्रभो! मुझमें वह शक्ति दो कि जिससे मैं उन्मार्ग का, इस नैरात्म्यवाद का खंडन करके पवित्र पावन इस जैनमार्ग का उद्योत कर सकूँ।''

अकलंक की आँखों से अश्रुधारा बहने लगती है। वे कुछ देर तक आँख बंद कर प्रभु का ध्यान करते हैं पुनः अन्यत्र चले जाते हैं।

(10)

रत्नसंचयपुर नगर साक्षात् रत्नों का संचय करने वाला ही है। वहाँ पर चारों तरफ जौहरी बसे हुए हैं और उनकी दुकानों पर रत्नों के ढेर लगे हुए हैं। व्यापारी वर्ग अपने-अपने व्यापार में

ही कुशल हों इतना ही नहीं किन्तु वे लोग अपने धर्मकार्यों में, जिनेन्द्रदेव की पूजा और मुनियों को आहारदान आदि क्रियाओं में भी पूर्ण कुशल हैं। प्रजा के अनुशास्ता राजा हिमशीतल भी प्रजा का अपने पुत्र के समान पालन कर रहे हैं। रानी मदनसुंदरी जैनधर्म परायणा हैं। फाल्गुन की आष्टाह्निका का महापर्व आ चुका है।

जिनमंदिर में श्रावक-श्राविकाओं की भीड़ उमड़ती चली आ रही है। मंदिर के प्रांगण में दिगम्बर जैनाचार्य विराजमान हैं। उनके आसपास और भी अनेक मुनिगण बैठे हुए हैं। कोई पाठ कर रहे हैं, तो कोई स्वाध्याय कर रहे हैं, कोई अध्ययन में तल्लीन हैं तो कोई ध्यान कर रहे हैं। कोई अन्य साधुओं को पढ़ा रहे हैं तो कोई अपना पाठ याद कर रहे हैं।...इसी बीच में महारानी मदनसुंदरी आती हैं। भक्ति से जिनपूजा आदि करके गुरु के सानिध्य में आकर श्रीफल चढ़ाकर नमोस्तु करती हैं–

"हे भगवन्! नमोस्तु-3।"

आचार्यश्री आशीर्वाद प्रदान करते हैं–

"सद्धर्मवृद्धिरस्तु।"

पुनः रानी पूछती हैं–

"भगवन्! आपके रत्नत्रय की कुशलता तो है ?"

"हाँ, तुम्हारा धर्मध्यान कुशल है ?"

इतना सुनते ही रानी का गला रुँध जाता है और कुछ भी बोलने में अक्षम हो माथा नीचा कर लेती हैं। पुनः कहती हैं–

"भगवन्! आज इस महान आष्टाह्निक पर्व में हमने

श्रीजिनेन्द्रदेव की रथयात्रा का महान आयोजन किया था किन्तु मेरे दुर्भाग्य से उसमें बहुत बड़ा विघ्न आ गया है। उसका निवारण आपके द्वारा ही संभव है।"

"वह क्या विघ्न है ? कहो।"

"प्रभो! आज मेरे पतिदेव ने यह बतलाया है कि जब तक आपके जैनधर्म में कोई महापुरुष बौद्धों के गुरु, संघश्री के साथ शास्त्रार्थ करके उन्हें पराजित न कर दे, तब तक हमारा जैनरथ नहीं निकल सकता है और न हमारा महामहोत्सव ही मनाया जा सकता है। अतः हे गुरुदेव! अब आप शीघ्र ही बतलाइये कि ऐसा कौन विद्वान् है जो उनसे शास्त्रार्थ करके उन्हें पराजित कर सके।"

आचार्य महाराज एक क्षण के लिए विचार करते हैं। पुनः कहते हैं–

"हे कल्याणि! हमारी समझ में इस समय बौद्ध गुरुओं के साथ शास्त्रार्थ करने में समर्थ कोई भी विद्वान् आस-पास में नहीं है। हाँ, मान्यखेट नगर में ऐसे विद्वान् अवश्य हैं। उनको बुलवाने का यदि आप प्रयत्न करें, तो सफलता प्राप्त हो सकती है।"

रानी ने खिन्न होकर कहा–

"गुरुदेव! सर्प सिर के ऊपर फुंकार रहा है। आप कहते हैं कि गारुड़ी दूर है। भला इससे क्या सिद्धि हो सकती है ? ओह! जान पड़ता है कि इस विपत्ति का आप लोग तत्काल प्रतिकार नहीं कर सकते हैं।...अहो!! क्या दैव को जैनधर्म का पतन कराना ही इष्ट है ? और जब मेरे पवित्र जैनधर्म की यह दुर्दशा होगी तब मैं ही जीवित रहकर क्या करूँगी ?"

महारानी राजमहल से अपना संबंध छोड़कर जिनमंदिर में श्रीजिनेन्द्र भगवान के सन्मुख पहुँचती हैं और प्रभु के सन्मुख दृढ़ प्रतिज्ञा करती हैं–

"हे तीन लोक के नाथ! जब संघश्री का मिथ्याभिमान चूर्ण होकर मेरा रथोत्सव बड़े ठाठ-बाट के साथ निकलेगा तभी मैं भोजन करूँगी अन्यथा मेरे चतुराहार का त्याग है क्योंकि मैं अपने नेत्रों से जैनशासन का अवमान नहीं देख सकूँगी।"

ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करके रानी मदनसुंदरी भगवान् के समक्ष कायोत्सर्ग में लीन हो गईं और पंचमहामंत्र का स्मरण करने लगीं। उस समय उनकी ध्यानमुद्रा ऐसी मालूम पड़ती थी कि मानों सुदर्शन मेरु पर्वत की चूलिका ही हो।

भव्यों को जिनभक्ति का फल अवश्य ही मिलता है अतः महारानी के निश्चल ध्यान के प्रभाव से जिनशासन देवी श्री पद्मावती माता का आसन कंपायमान हो उठता है। देवी अर्धरात्रि के समय वहाँ आती हैं और रानी से कहती हैं–

"मदनसुंदरि! जब तुम्हारे हृदय में जिनेन्द्र भगवान के चरणकमल विराजमान हैं तब तुम्हें चिन्ता करने की कोई भी आवश्यकता नहीं हैं। उनके प्रसाद से तुम्हारा मनोरथ निश्चित ही पूर्ण होगा। सुनो, कल प्रातःकाल ही अकलंकदेव इधर आवेंगे। वे जैनधर्म के बहुत बड़े विद्वान् हैं। वे ही संघश्री का दर्प चूर्ण कर दशों दिशाओं में जिनधर्म का उद्योत करने वाले हैं और तुम्हारा रथोत्सव निर्विघ्न सम्पन्न करने वाले हैं। तुम उन्हें अपने मनोरथों को पूर्ण करने के लिये कल्पवृक्ष ही समझो।'

देवी की बात सुनकर रानी के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वह प्रसन्नचित्त हो अपने कायोत्सर्ग को पूर्ण करती हैं और प्रातःकाल होते ही जिनेन्द्रदेव की महाभिषेकपूर्वक पूजा करती हैं। उसके बाद अपने महल में आकर विश्वस्त राजकीय पुरुषों को चारों ही दिशाओं में श्री अकलंकदेव के अन्वेषण के लिये भेज देती हैं। कुछ क्षण बाद प्रसेनजित् आकर निवेदन करते हैं–

"हे मातः! पूर्व दिशा की ओर बगीचे में अशोक वृक्ष के नीचे अपने बहुत से शिष्यों के साथ महात्मा अकलंकदेव विराजे हुए हैं।"

इतना सुनते ही वह धर्मवत्सला रानी अपने सहधर्मियों को साथ लेकर बड़े ही वैभव के साथ पहुँच जाती हैं और महती भक्ति से उन्हें प्रणाम करती हैं। भक्ति में विभोर होकर चंदन-पुष्प दीप-धूप आदि उत्तम सामग्री से उनकी पूजा करती हैं और पुनः-पुनः प्रणाम कर उनके चरणों के निकट बैठ जाती हैं। अकलंक देव रानी को आशीर्वाद देकर पूछते हैं–

"देवि! तुम सकुशल तो हो और सब संघ भी रत्नत्रय की आराधनापूर्वक सकुशल तो है न?"

अकलंकदेव के शब्दों को सुनकर रानी के नेत्रों से अश्रु की धारा बह चलती है। उसका गला रुँध जाता है और वह मौन रह जाती हैं। अकलंकदेव पुनः पूछते हैं–

"हे कल्याणि! महाराजा हिमशीतल की प्रजा को आज रामराज्य का सुख मिल रहा है उनकी पट्टमहिषी होकर भी आज आपके नेत्रों से यह अविरल अश्रुधारा क्यों ? कहो, क्या

बात है ? धैर्य धारण करो और निर्भय होकर कहो!''

रानी जैसे-तैसे अपने आंसुओं को पोंछकर साहस बटोर कर कहना प्रारंभ करती है–

''प्रभो! संघ है तो कुशल, परन्तु इस समय उसका घोर अपमान हो रहा है, इसका मुझे बहुत ही कष्ट है। गुरुवर्य! आज जैनधर्म पर बहुत बड़ा संकट आया हुआ है। बौद्ध के गुरु संघश्री ने मेरा रथोत्सव रुकवा दिया है और यह घोषणा कर दी है कि यदि कोई जैन विद्वान् उन्हें शास्त्रार्थ में पराजित कर सकेगा तभी जैन रथ निकल सकेगा अन्यथा नहीं। पवित्र धर्म का अपमान न सह सकने से मैंने चतुराहार का त्याग करके श्री जिनेन्द्रदेव की शरण ले ली है। इसी बीच देवी पद्मावती ने मुझे आपका मंगल आगमन विदित कराया है। भगवन्! अब जैनधर्म की रक्षा आपके ही हाथों में हैं।''

इतना कहकर रानी पुनः फूट-फूट कर रोने लगती है। अकलंकदेव रानी के समस्त वृत्तांत को विदित कर लेते हैं और गंभीर मुद्रा धारण कर बोलते हैं–

''देवि! वह समय निकट ही है कि तुम बौद्ध गुरु की पराजय देखोगी। शांतचित्त होवो, धर्म की विजय निश्चित ही होगी इसमें कोई भी संदेह नहीं है। वह संघश्री मेरे सामने वैसे ही नहीं ठहर सकेगा कि जैसे सिंह के सामने मदोन्मत्त हुआ भी हाथी नहीं ठहर पाता है। मैं देखता हूँ उसके पांडित्य को। अरे! वह तो बेचारा क्या है, यदि साक्षात् बुद्ध भगवान भी शास्त्रार्थ के लिए आ जावें तो भी मेरे सामने नहीं टिक सकते हैं। अतः

तुम धैर्य को प्राप्त होवो और चलो संघश्री के शास्त्रार्थ की चुनौती स्वीकार करो।''

रानी गद्गद् वाणी में बोलती है–

''प्रभो! अब आप शहर के मंदिरजी में पधारिये।''

अकलंक देव अपने शिष्यों के साथ उठ खड़े होते हैं और सभी चल पड़ते हैं।

(11)

संघश्री के पास शास्त्रार्थ की चुनौती की स्वीकारता का पत्र पहुँचता है। उसकी लेखन शैली को देखकर ही उनका मन क्षुभित हो उठता है। आखिरकार उन्हें शास्त्रार्थ के लिए तैयार होना ही पड़ता है।

राजा हिमशीतल का दरबार लगा हुआ है। महामात्य, सेनापति, पुरोहित और सभासद लोग यथास्थान बैठे हुए हैं। एक तरफ अकलंक देव उच्चासन पर विराजमान हैं और दूसरी तरफ बौद्ध धर्माचार्य संघश्री विराजमान हैं। अकलंक देव के निकट बौद्ध धर्माचार्य संघश्री उपस्थित हैं और बौद्ध गुरु के निकट उनकी शिष्यमंडली बैठी हुई है। राजा हिमशीतल के संकेतानुसार सारे कर्मचारी खड़े हुए हैं। बौद्ध गुरु और जैन गुरु में शास्त्रार्थ शुरू होने वाला है। दर्शकगण भी कौतुकवश होकर सभा में आ रहे हैं और कर्मचारी के द्वारा बताये गये स्थान पर बैठते जा रहे हैं। सर्वप्रथम संघश्री अपना प्रश्न अकलंक देव के सामने रखते हैं–

"क्या आत्मा का चिरकाल तक इस शरीर में रहना आप सिद्ध कर सकते हैं ?"

अकलंक उत्तर देते हैं–

क्यों नहीं, यदि आत्मा का अस्तित्व इस शरीर में शरीर के रहने तक स्थायी नहीं है तो आपने आज से तीन दिन पूर्व जो शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी थी वह आपको कैसे याद रही और मेरे द्वारा चुनौती के स्वीकार किये जाने पर आप शास्त्रार्थ के लिए यहाँ कैसे आये हैं ? आप ही बतायें। यदि आत्मा क्षण-क्षण में बदल रही है तो भला कल की या अभी प्रश्न करते समय की आत्मा तो आपके शरीर में रही नहीं पुनः आप मेरे उत्तर को कैसे समझेंगे ? क्योंकि प्रश्न करने वाली आत्मा तो दूसरी ही थी और उत्तर सुनने वाली आत्मा तो अब और ही आ चुकी है। अरे संघश्री महाराज! आप स्वयं ही सोचें, भला क्षण-क्षण विनश्वर की यह बात किसी के गले उतर सकती है ?"

"वाह! अकलंक महोदय! आप इतना भी नहीं समझते हैं? अरे! वस्तु व्यवस्था तो कुछ और है और व्यवहार तो कुछ और ही दिखता है। देखो, जो तीन दिन पूर्व के प्रकरण के याद की बात है या अभी प्रश्न के स्मरण की बात है, वह सब तो वासना है, संस्कार है। उस वासना से ही सब व्यवहार चलता है।"

"संघश्री महोदय! यह वासना सत्य है या अत्सय ? यदि असत्य है तो सारा लोक-व्यवहार ही असत्य, कल्पना रूप ही हो जावेगा, जो कि किसी को भी इष्ट नहीं है और यदि सत्य है, तो भइया! उसी का नाम आत्मा है कि जिसका आपने वासना

यह नामकरण कर दिया है।"

संघश्री एक क्षण के लिए चुप हो जाते हैं। तब अकलंक देव प्रश्न करते हैं–

"बताओ! तुम्हारा सुगत सर्वज्ञ है या नहीं ? यदि सर्वज्ञ है तो वासना से है या परमार्थ से ? यदि वासना से कहो तब यह तीन लोक और तीन काल का ज्ञाता कल्पना मात्र से ही सिद्ध होता है और यदि कहो परमार्थ से है, तब तो भइया! तुम्हारे क्षण-क्षण में नाश की व्यवस्था नहीं बन पाती है।"

इनकी प्रश्नोत्तर की शैली को देखकर बौद्ध गुरू मन ही मन सोचने लगते हैं कि इस अकलंक से विजयी होना असंभव ही है अतः क्या किया जाय ? शाम होते-होते वे राजा से कहते हैं–

"राजन्! यह धार्मिक विषय है, बहुत लम्बा है, इसका इतनी जल्दी निकाल होना कठिन है। अतः मेरी ऐसी इच्छा है कि यह शास्त्रार्थ सिलसिलेवार तब तक चलते रहना चाहिये कि जब तब एक पक्ष पूर्ण निरुत्तर न हो जाय। तब राजा अकलंक देव से कहते हैं–

"महात्माजी! संघश्री गुरु का ऐसा कथन आपको मान्य होना चाहिये।"

अकलंक देव निर्भीक हो बोलते हैं–

"ठीक है, मंजूर है।"

राजा कहते हैं–

"अच्छा आज का शास्त्रार्थ बंद होता है, कल पुनः इसी स्थान पर इसी समय से शास्त्रार्थ प्रारंभ हो जायेगा।"

सभा विसर्जित हो जाती है। सभी अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं। अकलंक देव की वाक्पटुता को देखकर और बौद्ध गुरु की पराजय को समझ कर रानी संतोष की सांस लेती हैं। अकलंकदेव की आज्ञा से वह धर्म के ऊपर आये संकट को दूर हुआ समझ कर अन्न जल ग्रहण करती हैं। इधर बौद्ध गुरुओं के यहाँ खलबली मच जाती है।

रात्रि में संघश्री बौद्ध विद्वानों को बुलाने के लिए यत्र-तत्र अपने शिष्य दौड़ा देते हैं और स्वयं चिंतित होकर विचार-निमग्न हो जाते हैं। कुछ क्षण बाद अपने धर्म की अधिष्ठात्री तारादेवी की आराधना करते हैं–

(बौद्ध गुरु संघश्री पठित तारादेवी प्रार्थना)

तारादेवी तेरे वंदे हम, नैय्या तारो करें भक्ति हम।
धर्म रक्षा करो, बुद्ध सच्चा कहो, तेरे चरणों में आए हैं हम।।
तारादेवी।।
नैय्या मझधार में है पड़ी, देवी आवो यह है शुभ घड़ी।
शीघ्र काटो भरम, धर्म की दो शरण, बौद्ध सच्चा है कह दो धरम।।
तारादेवी।।
आज अकलंक से हारे हम, आपका तब करा स्मरण।
आवो तुम भगवती, धर्म की हो सती, करो संकट का शीघ्र हरण।।
तारादेवी।।
तारादेवी तेरे वंदे हम, नैय्या तारो करें भक्ति हम।
धर्म रक्षा करो, बुद्ध सच्चा कहो, तेरे चरणों में आए हैं हम।।

"हे तारादेवी! आप धर्म की अधिष्ठात्री हैं और इस समय

इस बौद्ध धर्म की नैया मझधार में है। आवो आवो, हे देवि! जल्दी आवो और अपने भक्तों की लाज रखो। इस अकलंक ने तो आज ही मुझे पराजित कर दिया है। बौद्ध धर्म की धुरा को धारण करने वाली हे मातेश्वरी! अब मेरी ताकत उस विद्वान् से शास्त्रार्थ करने की नहीं है। अब कल सभा में क्या होगा ? हे भगवती! आप ही आकर शरणागतों की रक्षा करो।"

इत्यादि रूप से प्रार्थना करने पर तारादेवी उपस्थित हो जाती हैं और कहती हैं–

"बोलो, क्या चाहते हो ? मेरे भक्तों! तुम लोग आज इतने चिंतित कैसे हो रहे हो ?"

"हे भगवति! अपने धर्म पर बहुत बड़ा संकट आ पड़ा है उसे दूर करके अब तुम्हें इस बौद्ध धर्म की रक्षा करनी होगी। अकलंक बहुत बड़ा पंडित है उससे विजय पाना मेरे वश की बात नहीं है अतएव मैंने आपकी आराधना की है। अब आप स्वयं उसके साथ शास्त्रार्थ करके बौद्ध धर्म की रक्षा करो अन्यथा.....अन्यथा यह धर्म रसातल में चला जायेगा।"

"ठीक है, तुम चिंता मत करो। मैं शास्त्रार्थ करूँगी। परन्तु इस तरह खुली सभा में नहीं। परदे के भीतर ही घड़े में रहकर मैं प्रश्नोत्तर करती रहूँगी।"

इतना सुनते ही संघश्री खुशी से नाच उठा और बोला–

"धन्य हो देवि! धन्य हो, तुम्हारी जय हो, अच्छा अब आप जावो। मेरी चिंता दूर हो गई।"

देवी प्रस्थान कर जाती हैं। प्रातःकाल राजदरबार में सभा

लगती है। पूर्ववत् सारी व्यवस्था हो जाती है। तब संघश्री उपस्थित होकर राजा हिमशीतल से कहते हैं–

"राजन्! आज मैं बाहर सभा में बैठकर शास्त्रार्थ नहीं करूँगा, मैं अंदर परदे की ओट में बैठकर ही अपना पक्ष रखूँगा और उनका प्रतिवाद भी करूँगा।"

"क्यों, ऐसा क्यों ?"

"महाराज! ऐसे ही कुछ कारण हैं। हम सभा में किसी का मुख नहीं देखना चाहते हैं। आपके इस 'क्यों' का उत्तर हम शास्त्रार्थ समाप्त होने के बाद ही देवेंगे।"

राजा संघश्री के कपटजाल को कुछ समझ नहीं सके और बोले–ठीक है, जैसी आपकी इच्छा है वैसी सारी व्यवस्था मैं कराये देता हूँ।"

राजा की आज्ञा से परदे की व्यवस्था कर दी जाती है। संघश्री वहाँ परदे के अंदर बैठकर अपने शिष्यों द्वारा सारी सामग्री मंगाकर पहले बुद्ध भगवान की पूजा करते हैं पुनः तारादेवी की पूजा करके उसे एक घड़े में आह्वान करके स्थापित कर देते हैं। आप स्वयं अंदर ही एक तरफ बैठ जाते हैं।

इधर जब अकलंक देव आते हैं और उनके सामने 'परदे के अंदर बैठे हुए ही संघश्री बोलेंगे' ऐसा बात आती है तब वे आश्चर्यचकित से रह जाते हैं–

"ऐं!!ऐसा क्यों ? उन्हें सबके समक्ष बैठकर बोलने में संकोच क्यों ?"

महाराजा हिमशीतल कहते हैं–

"महात्मन्! मेरे गुरूजी की ऐसी ही इच्छा है उसमें आपको एतराज नहीं होना चाहिये।"

अकलंकदेव कहते हैं–

"ठीक है, कोई बात नहीं। अच्छा तो संघश्री महोदय! बोलिये, पहले प्रश्न आपकी तरफ से ही होने दीजिये।"

परदे से आवाज आती है–

"आपके जैनधर्म में जो वस्तु सत् है–विद्यमान है, वही वस्तु असत् है–अविद्यमान है। भला, ऐसा कैसे सम्भव हो सकता है ? आप स्वयं यहाँ विद्यमान हैं और फिर यहाँ नहीं विद्यमान हैं यह कथन तो उन्मत्त के प्रलाप सदृश ही है।"

"महोदय!

'सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासात् न चेन्न व्यवतिष्ठते।।'

अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन स्वचतुष्टय की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु, हम और आप सभी सत्रूप हैं, विद्यमान हैं। भला, ऐसा कौन नहीं मानेगा ? उसी प्रकार से पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन परचतुष्टय की अपेक्षा से वही वस्तु, हम और आप सभी असत् रूप हैं–अविद्यमान हैं। यह बात ही स्पष्ट प्रतीत हो रही है। यदि ऐसा न माना जाय तो आप और हम, पररूप से अर्थात् अचेतन रूप से अचेतन भी हो जायेंगे। पुनः वस्तु के अपने स्वरूप की कुछ भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अतः प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय से अस्तिरूप है और परचतुष्टय से नास्तिरूप है ऐसा समझो, इसी का नाम अनेकांत है। अच्छा मैं

आपसे पूछता हूँ कि आपके यहाँ मोक्ष की क्या व्यवस्था है ?''
परदे के अंदर से आवाज आती है– सुनो,

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपैति। नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित्, स्नेहक्षयात्केवलमेतिशांतिम्।।
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपैति, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित्, स्नेहक्षयात्केवलमेति शांतिम्।।

जिस तरह दीपक बुझता है, तब वह न पृथ्वी में जाता है, न आकाश में, न दिशा में जाता है न विदिशा में, सिर्फ तेल के खत्म होने से वह शांत हो जाता है। उसी प्रकार से जब जीव का निर्वाण होता है तब वह न पृथ्वी में जाता है न आकाश में, न दिशा में जाता है न विदिशा में, सिर्फ मोह के खत्म होने से वह शांत अर्थात् समाप्त हो जाता है।''

''वाह, महाराज वाह!! खूब रही। जब निर्वाण में आत्मा और ज्ञान इन दोनों का ही अभाव हो जाता है तब पुनः उस निर्वाण की प्राप्ति के लिये कौन प्रयत्न करेगा ? वास्तव में मोक्ष की इच्छा तो सुख के लिये है न कि अपने ही सर्वनाश के लिये। अतः विचार की कोटि में आपका मोक्षतत्त्व सही नहीं जँचता है। हमारे यहाँ तो सारे कर्म कलंक का नाश होकर मोक्ष में अनंत ज्ञान, अनंत सुख, वीर्य आदि गुण प्रकट हो जाते हैं।''

इतना कहते ही सब एक स्वर में बोल उठते हैं–

''बहुत ठीक, बहुत ठीक, महात्माजी! आपने बहुत ही सुन्दरता से इन क्षणिकवादियों के मोक्ष का खण्डन किया है और सही मोक्ष का विवेचन किया है।''

पुनः अकलंकदेव प्रश्न करते हैं–

अच्छा बताओ! आपके यहाँ संसार की क्या व्यवस्था है ?

संघश्री कहते हैं–

''संसरन्ति भवात् भवांतरं गच्छन्तीत्येवंशीला संसारिणः स्कंधाः सचेतना अचेतना वा।' जो स्थान से स्थानांतर को अथवा भव से भवांतर को गमन करें वे संसारी स्कंध हैं। वे सचेतन या अचेतन परमाणु के प्रचय विशेष कहलाते हैं। वे स्कंध पाँच ही होते हैं। इन पाँचों से भिन्न आत्मा नाम का कोई छठा स्कंध नहीं है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये इनके नाम हैं। ये पाँचों स्कंध क्षणिक हैं, एक क्षण तक ही ठहरते हैं। जिससे लोक में 'मैं हूँ, यह मेरा है,' इत्यादि अहंकार और ममकार रूप भाव उत्पन्न होते हैं उसे 'समुदय' कहते हैं।

जो पाँच स्कंधों में आत्मा को देखता है, उसे 'यह मेरा है' ऐसा नित्य स्नेह होता है, स्नेह से तृष्णा, तृष्णा से दोषों पर दृष्टि न जाना, उसमें गुण दिखाई देना, आत्मसुख में गुण दिखने से उसके साधनों में ममकार होना, उन्हें ग्रहण करना, इत्यादि रूप से जब तक दुराग्रह रहता है तभी तक संसार है।''

पुनः अकलंकदेव उत्तर देते हैं–

''अरे भाई! यह आत्मा पंचस्कंधरूप नहीं है, जब आत्मा परलोक में गमन करता है तब यह पंचभूतमय शरीर यहीं पड़ा रह जाता है इसलिये अचेतन में चेतन की कल्पना करना गलत है। पंचस्कंध को संसार व उसके द्वारा होने वाले सुख-दुःख का अनुभव नहीं आता है। यह आत्मा कर्म के निमित्त से वर्णादिमय

शरीर को ग्रहण करता है। जब उससे निर्मम होकर राग-द्वेषादि का अभाव कर देता है तब संसार के संसरण को, चतुर्गति के दुःखों को समाप्त कर देता है और जब तक नहीं समाप्त कर पाता है तभी तक संसारी है।

यह आत्मा कर्म से सहित होकर शरीर को ग्रहण कर उसके प्रमाण ही प्रदेशों को संकुचित करके रहता है अतः यह कथंचित् पंचभूत अथवा पाँच स्कंधरूप है, पुनः अपने अमूर्तिक स्वभाव को, ज्ञान, दर्शन आदि गुणों को न छोड़ने से कथंचित् चिच्चैतन्यमय ही है, ऐसा समझो। स्याद्वाद के बिना आप संसार क्या, आत्मतत्व क्या, मोक्ष क्या ? किसी की भी सिद्धि नहीं कर सकते हैं।''

इत्यादि रूप शास्त्रार्थ चलते-चलते जब लगभग छह माह व्यतीत हो जाते हैं और किसी की भी जय-पराजय नहीं हो पाती है, तब अकलंकदेव बहुत ही चिन्तित हो उठते हैं। वे सोचते हैं–

''अहो! साधारण पढ़ा लिखा यह संघश्री आचार्य जो कि पहले दिन ही मेरे से पराजित सा हो चुका था वह आज बराबर छह महीने से शास्त्रार्थ करता चला आ रहा है। इसका क्या कारण है ? इसमें क्या रहस्य है ? कुछ समझ में नहीं आ रहा है।.....कब तक यह शास्त्रार्थ चलाया जायेगा ? इसका अंत कैसे किया जाय ? भगवन्! मेरी बुद्धि कुछ काम नहीं कर रही है। इस रहस्य का उद्घाटन कैसे हो सकता है ?...''

इत्यादि चिन्ता करते हुए अकलंक देव एकांत स्थान में बैठे

हुए हैं। उसी समय जिनशासन की अधिष्ठात्री चक्रेश्वरी देवी वहाँ आती हैं और वह अकलंकदेव के समक्ष निवेदन करती हैं–

''प्रभो! आपके साथ शास्त्रार्थ करने की शक्ति इस भूतल पर रहने वाले मनुष्यों में तो है नहीं, पुनः बेचारे इस संघश्री की क्या ताकत है कि जो वह आपके साथ शास्त्रार्थ कर सके। यहाँ तो बात कुछ और ही है। आपके साथ जो शास्त्रार्थ कर रहा है वह संघश्री नहीं है किन्तु बुद्ध धर्म की अधिष्ठात्री 'तारा' नाम की देवी है। इतने दिनों से परदे की ओट में वही देवी आपके साथ शास्त्रार्थ कर रही है।

इसलिये कल जब आप सभा में पहुँचेंगे, शास्त्रार्थ के प्रारंभ में वह देवी जो कुछ प्रश्न आप से करे, आप उसे पुनः उसी विषय का प्रतिपादन करने को कहना, तब उसके निरुत्तर हो जाने पर आपके शास्त्रार्थ का अंत आ जायेगा। आप चिंता छोड़िये, आप तो इस भूतल पर स्याद्वाद सूर्य की किरणों को फैलाने में पूर्णतः सक्षम हैं पुनः आपके सामने वह तारादेवी भला कब तक ठहर सकती है।''

देवी के उपर्युक्त वचन सुनते ही अकलंकदेव की चिंता दूर हो जाती है और वे अतिशय प्रसन्नता को प्राप्त हो जाते हैं। प्रातःकाल होता है, अकलंक देव सामायिक आदि नित्यक्रिया से निवृत्त हो सर्वप्रथम जिनमंदिर में पहुँचते हैं। अतीव भक्ति-भाव से जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करके वे यहाँ से सीधे राजसभा में आ जाते हैं। पुनः राजा से कहते हैं–

''राजन्! इतने दिनों तक जो मैंने शास्त्रार्थ किया है उसका

यह मतलब नहीं है मैं संघश्री को पराजित नहीं कर सका हूँ। परन्तु इतने दिनों तक शास्त्रार्थ करने का अभिप्राय मेरा केवल जिनधर्म के प्रभाव को बतलाने का ही था। अब मैं इस वाद का अंत करना चाहता हूँ। आज मैंने निश्चय कर लिया है कि अब मैं इस वाद की समाप्ति करके ही आहार ग्रहण करूँगा।''

ऐसा कहकर अकलंक देव परदे की ओर देखते हुए बोलते हैं-

''क्या जैनधर्म के संबंध में कुछ और समझना बाकी है या मैं अब शास्त्रार्थ को समाप्त करूँ।''

इतना सुनकर उधर से आवाज आती है–

''बौद्ध संप्रदाय के चार आर्य सत्य माने गये हैं–दुःख, दुःखसमुदय, मार्ग और निरोध। इन चार से ही जब काम चल जाता है तब पुनः जैनों ने सात तत्त्व क्यों माने हैं ?''

अकलंकदेव बोलते हैं–

''आपने जो विषय कहा है, उसे पुनः कहिये।''

अकलंकदेव के द्वारा पुनः पक्ष रखने की बात सुनकर देवी का साहस एक साथ ही न जाने कहाँ चला गया। अतः वह कुछ भी उत्तर न दे सकी। इधर पुनः पक्ष के न रख सकने के कारण अकलंकदेव कुछ क्षण प्रतीक्षा करते रहे। अनंतर वे उठकर परदे की तरफ चलते हैं और उसे फाड़कर अंदर घुस जाते हैं। वहाँ जिस घड़े में देवी का आह्वान किया गया था उस घड़े को पैर की ठोकर से फोड़ डालते हैं। उस समय वह तारादेवी अपमानित होकर भाग खड़ी होती है। संघश्री आदि इस अपमान से बुरी तरह पराजित हो जाते हैं और अपना मुँह लटकाये खड़े रह

जाते हैं। ऐसा लगता है कि मानों उनके पैर के नीचे से धरती ही सरक गई हो। उस समय इन संघश्री आदि सभी बौद्ध आचार्यों का दर्प चूर-चूर हो जाता है।

अकलंकदेव की इस विजय से और जैनधर्म की अतिशय प्रभावना से महारानी मदनसुंदरी और जैन जनता को बहुत ही आनंद हो जाता है।

अकलंकदेव सभा में घोषणा करते हैं–

''सज्जनों! मैंने इस धर्मशून्य संघश्री को पहले ही दिन पराजित कर दिया था, इतने दिन तक तो मेरा शास्त्रार्थ तारादेवी से साथ चल रहा था–

पुनः राजा हिमशीतल को सम्बोधित करते हुए कहते हैं–

'राजन्! साहसतुंग सन्ति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः।
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः।।
त्वद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वागीश्वरा वाग्मिनो,
नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः[1]।।'

हे साहसतुंग राजन्! जिनके ऊपर सफेद छत्र फिर रहे हैं ऐसे राजा बहुत हैं किन्तु रण में विजयी और त्याग में सबसे आगे रहने वाले ऐसे आपके सदृश राजा दुर्लभ हैं। वैसे इस कलियुग में इस समय नाना शास्त्रों के विचार में चतुर बुद्धि वाले कवि, वादकुशल और वाग्मी विद्वान् तो बहुत हैं किन्तु सभी विषयों में कुशल ऐसा मेरे सदृश विद्वान् अन्य कोई नहीं है।

कल्याण के इच्छुक अज्ञजनों के पूर्वोपार्जित पाप के उदय

1. जैन शिलालेख संग्रह भाग-1, पृ. 104।

से एवं कलिकाल के प्रभाव से गुणद्वेषी एकान्तवादियों ने इस न्याय (तर्कशास्त्र) को मलिन कर दिया है सो करुणाबुद्धि से प्रेरित हो करके हम उस मलिन किये गये न्याय को सम्यग्ज्ञान रूपी जल से किसी तरह धोकर निर्मल कर रहे हैं–

पुनः सभासदों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं–

'नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवले,
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया।
राज्ञः श्री हिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मानो,
बौद्धोधान् सकलान् विजित्य सुगतः पादेन विस्फालितः।।

महाराजा हितशीतल की सभा में मैंने सब बौद्ध विद्वानों को पराजित कर जो सुगत को ठुकराया है। यह न तो मैंने अभिमान के वश होकर किया है और न किसी प्रकार के द्वेष भाव से ही किया है किन्तु नास्तिक–शून्यवादी–अनात्मवादी बनकर नष्ट होते हुये जनों पर मुझे बहुत ही करूणा आई है, इस करूणा बुद्धि से बाध्य होकर ही मुझे ऐसा करना पड़ा है।

उस समय राजा हिमशीतल भी यही बोलते हैं–

"अरे धूर्तों! मुझे नहीं मालूम था कि तुम लोग इतने मायाचारी हो। अरे! जब तुम्हारे में शास्त्रार्थ की सामर्थ्य नहीं थी तब स्पष्ट ही क्यों नहीं कहा था। अहो! बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम दुष्टों ने देवी तारा को घट में स्थापित करके विजय पाने की सोच रखी थी। परन्तु सच है, विजय तो सत्य की ही होती है, एक देवता नहीं, हजारों ही क्यों न मिल जावें, वे असत्य की विजय नहीं करा सकते हैं। अहो! धन्य हैं, धन्य हैं, अकलंकदेव!

आपको कोटिशः धन्यवाद है। आपकी जय हो, जय हो प्रभो! आपने हम जैसे मूढ़ प्राणियों को मिथ्यात्वरूपी घोर अंधकार से निकालकर दिव्य अनेकांतमय प्रकाश दिया है। भगवन्! आपने ही अनंत संसार से हम लोगों की रक्षा की है। स्वामिन्! यदि आप आज इस भूतल पर न होते तो हम जैसे अज्ञानी प्राणियों को संसार समुद्र से निकाल कर सच्चे मोक्षमार्ग में कौन स्थापित करता ?.....अतः आप अब सभी को जैनधर्म में दीक्षित कीजिये और सम्यक्त्वरूपी रत्न प्रदान कीजिये।"

अकलंकदेव सभी को जैनधर्म में दीक्षित करते हुए कहते हैं–

"हे भव्य जीवों! सच्चे आप्त अरिहंत को छोड़कर और कोई देव नहीं हैं, उनके कहे हुए आगम छोड़कर और कोई शास्त्र नहीं है, निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरू को छोड़कर और कोई गुरू नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार से इन सच्चे आप्त, आगम और गुरू का श्रद्धान करना यही सम्यग्दर्शन है। इसके निःशंकित आदि आठ अङ्ग हैं उन्हें भी ग्रहण करना चाहिए तथा शंका आदि पच्चीस दोषों को छोड़ देना चाहिए।"

सभी लोग मस्तक झुकाकर जैनधर्म स्वीकार करते हैं। अनेक बुद्ध साधु तथा उनके अनुयायी गृहस्थ भी कहते हैं–

"गुरुदेव! हम लोग भी इस निःसार शून्यवाद को छोड़कर आपकी शरण में आये हैं आप हमें भी सन्मार्ग में दीक्षित कर लीजिये।"

अकलंकदेव उन सबको भी जैन बना देते हैं। जैनधर्म की जय और अकलंकदेव की जय की ध्वनि से साथ-साथ राजसभा विसर्जित हो जाती है।

(12)

जिनमंदिर की शोभा ऐसी मालूम हो रही है कि मानों साक्षात् यहाँ जिनेन्द्रदेव का समवसरण ही आ पहुँचा है। शहर में भी जहाँ-तहाँ रत्नों के तोरण बाँधे गये हैं। जिनमें छोटी-छोटी घंटियाँ लटक रही हैं। उनकी रुनझुन की आवाज कानों को अतिशय मधुर लग रही है। जगह-जगह केशरिया ध्वज लहरा रहे हैं। रंग बिरंगी पताकाओं से आकाश ऐसा दिख रहा है कि मानों बिना बादल के ही आकाश में इंद्रधनुष की छटा होने से रंग बिरंगी रोशनी फैल रही है। सर्वत्र फूलों की मालायें अपनी सुगंधि से दशों दिशाओं को सुरभित कर रही हैं। अतिशय ऊँचा रथ स्वर्ण से निर्मित है अतः स्वयं में तो उगते हुए सूर्य के सदृश देदीप्यमान हो ही रहा है, पुनः मणियों की और फूलों की मालाओं ने, ध्वजापताका और चंवरों ने उसकी शोभा द्विगुणित कर दी है। रथ में श्री जिनेन्द्रदेव विराजमान हैं, उनके ऊपर छत्र फिर रहे हैं और दोनों तरफ खड़े हुये इंद्र चंवर ढोर रहे हैं। छोटी-छोटी घंटियों की मधुर ध्वनि बहुत ही अच्छी लग रही है।

रथ के आगे अनेक प्रकार के बाजों की ध्वनि का गंभीर शब्द हो रहा है। जो कि रत्नपुर नगर के सारे नर-नारियों को मानों बुला ही रहा है। लाखों की संख्या में मनुष्य अपनी भक्ति का प्रदर्शन करते हुए भजन, कीर्तन आदि के द्वारा जिनेन्द्रदेव का गुणगान कर रहे हैं। यत्र-तत्र इन्द्र के वेश में सजे हुए भक्तगण भगवान की भक्ति में विभोर होकर नृत्य कर रहे हैं,

कहीं-कहीं महिलाएँ भी देव अप्सरा के समान नृत्य कला में प्रवीण होने से भक्ति रस में लीन हो नृत्य कर रही हैं। बड़े वैभव के साथ श्री जिनेन्द्रदेव को रथ में विराजमान करके रथयात्रा महोत्सव मनाया जा रहा है।

जब रथ चलने लगता है तब भक्तों के द्वारा उच्चारित जय-जय की ध्वनि से आकाशमण्डल गूंज उठता है। भक्तगण हर्षित होकर सुन्दर-सुन्दर रंग-बिरंगे फूलों की वर्षा करते हुए अपने आपको महाभाग्यशाली अनुभव कर रहे हैं। उस समय ऐसा मालूम हो रहा है कि मानों पुण्यरूपी रत्नों को उत्पन्न करने वाला एक दूसरा रोहण पर्वत ही प्रगट हो गया है। रानी मदन सुन्दरी हर्ष से विभोर हो अपने आप में फूली नहीं समा रही हैं। रानी की भावना के अनुसार राजा हिमशीतल ने अपने भण्डार को खोल दिया हैं और भण्डारी याचकजनों को मुँहमांगा धन बाँट रहे हैं। उस समय ऐसा मालूम पड़ रहा है कि मानों रानी मदनसुन्दरी की यशोराशि ही भ्रमण कर रही है। राजा स्वयं रथ के साथ पैदल चलते हुए अपने आपको धन्य समझ रहे हैं और सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को प्राप्त कर अपने आपको कृतकृत्य कर रहे हैं।

अगणित भव्यजीव इस रथ महोत्सव को देख-देखकर अपने जीवन को सफल बना रहे हैं। कोई जिनमहिमा महोत्सव के निमित्त से अनंत मिथ्यात्व का वमन कर सम्यक्त्व ग्रहण कर रहे हैं, कोई अणुव्रत ले रहे हैं तो कोई जैनश्वरी दीक्षा के सन्मुख हो रहे हैं। सर्वत्र नारे लगाये जा रहे हैं–

''भगवान महावीर की जय, जैनधर्म की जय, अकलंकदेव की जय, जैनशासन सदा जयशील रहे।''

सब मिलकर जिनेन्द्रदेव की अंतिम प्रार्थना करते हैं–

(**तर्ज-मेरे देश की धरती.....**)

मेरा जैन का शासन बढ़ता जाए, धर्मध्वजा फहराए
मेरा जैन का शासन!

अकलंकदेव ने अब धरती पर, जैन धर्म फैलाया है।
बौद्धों का कर परिहार, जैन केशरिया ध्वज फहराया है।।
यह स्याद्वादमय अनेकांत, जिनधर्म की शान बढ़ाए।
मेरा जैन का शासन।।1।।

निकलंक ने कर बलिदान, जैनदर्शन प्रभाव दिखलाया है।
भाई-भाई का मोह तजा, अकलंक को कहीं छिपाया है।।
यह है इतिहासों की बातें, इतिहास हमें सिखलाए।
मेरा जैन का शासन।।

।।समाप्त।।